महापुरुषों के दर्शन

प्रकाशक—

शारदा मन्दिर लिमिटेड,

नई सड़क, देहली।



लेखक—

प्रो० रामस्वरूप 'कौशल'

एम० ए०, एम० एस० पी० (लन्दन)

मूल्य एक रुपया बारह आने।

प्रकाशकः—

शारदा मन्दिर लिमिटेड

नई सड़क, देहली।



सन् १९३६

द्वितीय संस्करण

मुद्रक—

बा० हरनामदास गुप्त

मालिक—भारत प्रिंटिङ्ग प्रेस,

बाजार सीताराम, देहली।

प्राक्कथन

भारतवर्ष में धर्म का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। धार्मिक जीवन को सर्वश्रेष्ठ समझा गया है। ससार भर मे भारतवर्ष को धार्मिक प्रेम, धार्मिक जीवन तथा धार्मिक उद्देश्यो के लिये विशेष महत्व दिया जाता है परन्तु दुर्भाग्यवश कुछ समय से इस देश मे धर्म का स्थान साम्प्रदायिकता ने ले लिया है। जहा धर्म हृदय को विशाल बनाता है वहा साम्प्रदायिकता के प्रभाव मे आकर लोग एक दूसरे से लड़ते झगटते हैं और पारस्परिक व्यवहार मे अनुदारता प्रकट करते हैं।

अपने देश की वर्तमान प्रचलित साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि हम देश के बालक, बालिकाओं तथा युवको के हाथ मे ऐसा साहित्य रक्खें, जिस के पाठ से उनके हृदय की सकीर्णता दूर हो और वे अपने से भिन्न धर्मावलम्बियो के प्रति सहिष्णु और उदार बनें।

यह पुस्तक इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये लिखी गई है। इस मे भारत मे प्रचलित मुख्य-मुख्य धर्मों के प्रवर्त्तको की सक्षिप्त जीवन-कथाये उन की दी हुई धार्मिक शिक्षाओं के सार सहित दी गई हैं। लेखक के अपने शब्दों मे—"प्रत्येक प्रवर्तक वा पैगम्बर का जीवन-चरित्र मैंने उसी के श्रद्धालु अनुयायी के दृष्टि कोण से लिखा है। अपनी ओर से

न कुछ बढ़ाया है और न घटाया ही है, न किसी को लेकर विवाद ही किया है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना से मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि भिन्न भिन्न मतो का परस्पर मुक़ाबिला करके किसी एक को सत्य और दूसरो को झूठा प्रमाणित करू।'

इस पुस्तक का पहला सस्करण "प्रेम सन्देश" के नाम से प्रकाशित हुआ था। यह सशोधित सस्करण अब "महापुरुषों के दर्शन" नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। यह नाम इस पुस्तक के लिये पहले नाम से कहीं अधिक सार्थक और उपयुक्त है।

प्रकाशक —

उपहार

____

____

____

महापुरुषोंके दर्शन



महापुरुषों के दर्शन

[१]

श्री कृष्ण भगवान्

जब संसार मे अत्याचार, अनर्थ, अनाचार और पाप बहुत बढ़ जाते हैं, उस समय कोई-न-कोई महात्मा जन्म लेते हैं। द्वापर युग के अन्त में भी ऐसा ही हुआ। उस समय के अनेक शासक घोर अत्याचारी, प्रजा-पीड़क तथा अन्यायी थे। सभी जगह जिस की लाठी उस की भैंस की कहावत चरितार्थ हो रही थी। दुर्बल, असहाय लोगों के न प्राण सुरक्षित थे और न धन-मान। पृथ्वी पापो के भार तले दबी जा रही थी। तब दुष्टो के दलन, पापियो के संहार, अत्याचारियों को यथोचित दण्ड देने, अनाचार तथा पाप की रोक-थाम, तथा अत्याचार पीड़ितो की सहायता और उद्धार के लिये श्रीकृष्ण भगवान् का जन्म हुआ।

प्रायः पांच सहस्र वर्ष की बात है, मथुरा के सिंहासन पर राजा उग्रसेन का कुल-कलंक पुत्र कंस शासन करता था। वह अत्या-चार और अन्याय की तो मानो सजीवमूर्त्ति ही था। अपने-पराए सभी उस से तङ्ग थे। असहाय प्रजा उसके अत्याचार और निर्दयता से अत्यन्त दुःखी थी, पर उसके बल और शक्ति के आगे

सर्वथा निरुपाय थी। कंस अपने साले मगधाधीश राजा जरासंध के बल तथा सहायता के भरोसे अपने पिता को जीते जी गद्दी से उतार आप राजा बन बैठा था। उसने यदु-कुल की उज्ज्वल कीर्ति को कलुषित कर डाला था। जब ईश्वर के निर्दोष जीवों पर उस के अत्याचार तथा अन्याय दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ते ही गये, तब उस न्यायकारी, दयासागर ने उस पापी के अत्याचारों का अन्त करने के लिये भगवान् कृष्ण को भारत में भेजा।

कंस के चाचा राजा देवक ने अपनी पुत्री देवकी का वसुदेव जी से विवाह रचाया। कंस सारथी बन अपनी बहन और बहनोई का रथ हांक ले चला। रथ अभी बहुत दूर नहीं गया था कि इतने में आकाश-वाणी हुई:—"कंस! जिन वसुदेव और देवकी को तू रथ में बैठा कर ले चला है, उन्हीं का आठवां पुत्र तेरे प्राणों का ग्राहक बनेगा!"

कंस ने तुरन्त रथ को थाम लिया, खड्ग मयानसे निकाल ली और सर्वथा निर्दोष, निहत्थी बहन को काल के घाट उतारा ही चाहता था कि वसुदेव जी ने किसी प्रकार उसे समझा-बुझा कर ठण्डा किया, और यह वचन दिया कि मैं अपनी संतान आप ही लाकर आपको सौंप दिया करूंगा, आप अपने हाथ से उसकी हत्या कर डालें, अथवा जैसा उचित जान पड़े, वर्त्ताव करें। उस समय तो कंस ने वसुदेव और देवकी को छोड़ दिया, पर कुछ दिन पीछे फिर कुछ जी में आया, और वह बहन तथा बहनोई दोनों को पकड़ लाया और मथुरा में अपनी देख-रेख में रक्खा।

जब उनके कोई सन्तान होती, पापी कंस तुरन्त उस अबोध तथा निरपराध शिशु के लहू से हाथ रँगता। इस प्रकार उसने छः भानजों की, एक-एक करके,अत्यन्त निर्दयतापूर्वक हत्या कर डाली और उनके खून अपनी गरदन पर लिये।

सातवीं बार गर्भपात होगया। आठवीं बार जब फिर गर्भ हुआ, तो पति-पत्नी की और भी कड़ी देख-रेख होने लगी, जिस से वे अपनी भावी संतान की रक्षा मे सफल न हो सके। भाद्रपद की अष्टमी को, बुधवार के दिन, रात के बारह बजे जेल की काल कोठरी में श्रीकृष्ण महाराज ने जन्म लिया। उस लीलामय की लीला ! जब भगवान् कृष्ण ने जन्म लिया, उस समय मूसलाधार वर्षा हो रही थी। आधी रात का समय था। घन-घोर घटाये उमड़ी आ रही थी। ऐसा घटाटोप अंधकार छाया हुआ था कि हाथ को हाथ सुझाई नही देता था। हवा ऐसी सन्नाटे की चल रही थी, मानो सारे संसार को ले उड़ेगी। सभी द्वार-रक्षक और पहरेदार घोर निद्रा के वशीभूत होगये। वसुदेव और देवकी यह सोच रहे थे कि किस विधि से अपनी इस नेत्रो की ज्योति की प्राण-रक्षा करे। उसी क्षण उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कोई कह रहा हो:—"इस बालक को इसी क्षण ले जाकर नद के घर में यशोदा के पास छोड़ आओ, और उनकी नवजात कन्या को उठा लाओ।"

नन्द जी गोप जाति के नेता और अग्रणी थे। उनसे वसुदेव जी की बडी मित्रता थी। माता यशोदा नन्द जी की धर्म-पत्नी

थी। वसुदेव जी ने अपनी पहली पत्नी रोहणी को भी, जिसके गर्भ से बलराम ने जन्म लिया, उन्हीं के यहां भेज रक्खा था।

वसुदेव जी तुरन्त बालक को गोद मे उठा द्वार के पास आए, तो देखते क्या हैं कि द्वार खुला पडा है, और पहरेदार बे-सुध पडे सोते हैं। वह दबे-पांव बाहर निकल आए और यमुना के तीर पहुँचे। देखा, खूब बाढ आ रही है, जल गजों ऊँचा उछल रहा है। वह ईश्वर का नाम लेकर नदी मे कूद पडे और बात-की-बात मे पार उतर गये। उनको यह पता भी न लगा कि उन्होने यमुना को कैसे पार किया, और न ही उन्हे वर्षा का ही अनुभव हुआ। वसुदेव जी अपना पुत्र नद जी को सौंप उनकी पुत्री उसकी जगह ले आये और देवकी के साथ लिटा दिया।

प्रातःकाल पहरेदारों ने देवकी के सतान उत्पन्न होने का समाचार कस को सुनाया। कस उसी क्षण कारागार में पहुचा और उस नव-विकसित कली को बहन से छीन अत्यन्त निर्दयता पूर्वक पत्थर पर दे पटका। उसमे से एक अति उज्ज्वल और तीव्र ज्योति निकल कर आकाश पर जा पहुची और देखते-ही-देखते उसने देवी का रूप धारण कर लिया। उसके आठ भुजाये थी। उनमें से किसी में शख था, किसी में चक्र, किसी में गदा और किसी में पद्म। उसी समय देव-वाणी हुई—"पापी कस! तेरी यह चेष्टा व्यर्थ है। जो व्यक्ति एक दिन तेरी जीवन-लीला समाप्त करेगा, वह बच निकला है।"

यह सुना, तो मानो कंस के सिर पर भूत चढ़ गया। राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक नाका-बन्दी करा दी गई, और यह आज्ञा प्रचारित कर दी गयी कि जो भी दुधमुँहा बालक मिले, कुछ भी आगा-पीछा सोचे बिना उसकी हत्या कर डाली जाय। बस क्या गोकुल और क्या मथुरा चारो ओर हाहाकार मच गया। सहस्रो अबोध शिशुओ के रक्त से पृथ्वी रंजित हो गई। अभागे पिता-माताओ के करुण-क्रन्दन तथा विलाप से आकाश और पाताल दोनो गूँज उठे। धर्म का सिंहासन डोल गया। कुछेक धनी-मानी व्यक्तियो ने राजा और राज्य के उच्च-पदाधिकारियो से अनुनय-विनय करके और बहुसंख्य धन-द्रव्य दे दिला किसी प्रकार अपने प्राण-समान पुत्रो की प्राण रक्षा की। नंद जी भी इन्हीं लोगो में सम्मिलित थे।

भगवान् कृष्ण का जन्म हुये अभी थोड़े ही दिन हुए थे कि पूतना राक्षसी एक परम सुन्दरी रमणी का वेप धर उन्हे दूध पिलाने के बहाने आई। वह कंस की आज्ञा से विप मिला दूध पिलाकर राज्य भर के बालको की हत्या कर रही थी। परन्तु श्री कृष्ण ने उस की छाती से दूध पीने के बहाने उसका प्राणान्त ही कर डाला।

नन्द और यशोदा माता-पिता से भी अधिक प्रेम के साथ श्रीकृष्ण का लालन-पालन करने लगे। यह यदुकुल का राजकुमार गोकुल में गोप बालको के समान पालित हो परवान चढ़ा। सारा गांव उसकी मोहिनी मूर्त्ति पर प्राण न्यौछावर करता था। माता

यशोदा उन्हे कन्हैया कह कर पुकारती थी। गोकुल के बालक-बालिकाये, युवा पुरुष और स्त्रियां तथा बड़े-बूढ़े सभी श्रीकृष्ण से एक समान प्रेम करते थे। बाल्यावस्था का जो अश घर पर व्यतीत हुआ, उस में श्री कृष्ण की चचलता गोकुल वासियो को बहुत तङ्ग करती थी। पडोसियो के घरो मे चुपके से जाकर दूध और मक्खन चख आना, बरतन भांडे तोड डालना और ऐसी ही बहुत सी क्षति कर देना उनका नित्य कार्य था। पर कोई भी एक शब्द इनके विरुद्ध मुख पर न लाता, कारण, वे गोकुल वासियो को प्राण समान प्रिय थे।

जब से श्रीकृष्ण ने जन्म लिया था, दुष्ट कस उनके लहू से हाथ रँगने के नित्य नये उपाय व्यवहार मे लाता रहता था। इसी लिए गोप अपने सरदार नन्द जी के साथ परामर्श कर मथुरा नगर से कुछ दूरी पर एक हरे-भरे जङ्गल मे आ बसे, और उसका नाम "बृन्दावन" रक्खा। अब कृष्ण कुछ बड़े हो गये थे, इसलिये यह भी अपने बड़े भाई बलराम और गोप बालको के साथ नन्द जी की गौएं चराने जाने लगे। इस अवस्था में श्री कृष्ण ने कई चमत्कार दिखाये। उन्होने वत्सासुर और बकासुर की हत्या की। इसी प्रकार अनेक बनैले, हिंसक पशुओ को भी मार गिराया जिनका मारना मानवी शक्ति से बाहर का काम था। यमुना मे एक जगह कालिय नाग रहता था। उसका ऐसा आतङ्क छाया हुआ था, कि कोई प्राणी वहा जाने या रहने नही पाता था। श्रीकृष्ण ने यह सुना तो झट यमुना मे छलांग मारी। कालिय

नाग तथा उसके कुटुम्बियों के साथ बहुत देर तक उनका घोर सग्राम होता रहा। अन्त में भगवान् कृष्ण ने उन सबको परास्त करके छोड़ा। कालिय नाग ने विनय पूर्वक क्षमा-प्रार्थना की और उस स्थान को छोड़ दूसरी जगह चला गया।

एक बार वृन्दावन-वासी इन्द्र देवता को बलि चढ़ाने के लिये एक भारी यज्ञ रचने का उपक्रम करने लगे। यह देख श्रीकृष्ण भगवान् ने नन्द जी से पूछा—"यह आप लोग क्या करने चले हैं?"

नन्द जी बोले—"हम लोग रीति परम्परा के अनुसार इन्द्र देवता की पूजा और उसको भेंट चढ़ाने की तैयारी कर रहे हैं। इन्द्र जल का देवता है। वर्षा उसी की आज्ञा से होती है और वर्षा से खेत हरे होते हैं, अन्न की उपज बढ़ती है और मनुष्य को अपनी आजीविका के साधन प्राप्त होते हैं।"

श्रीकृष्ण की आयु अभी बाल्यावस्था के ही अन्तर्गत थी। वह कोई भारी विद्वान् भी नहीं थे, पर उन्होंने कहाः—"मनुष्य का अस्तित्व उसके कर्मों का ही फल है। उसका जन्म-मरण, उस का मङ्गल और अमङ्गल, सब कुछ उसके अपने कर्मों का ही फल है। न मनुष्य कोई कर्म करे और न उसको कोई फल प्राप्त हो। इस कारण संसार में जो वस्तु सर्वोत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ मानने के योग्य है, वह यही कर्म हैं। इन्द्र की पूजा व्यर्थ है, कर्म ही इन्द्र हैं। जो हमें जीवित रहना स्वीकार हो, तब हमको चाहिये कि कर्म करें। और पूजा-अर्चना की अधिकारी भी वही वस्तु है जो

हमे जीवित रखती है। गौएं हमारे जीवन का आधार और आजीविका-प्राप्ति का हेतु हैं, और उनके पालन का साधन वह हमारे सामने वाला गोवर्धन पर्वत है। जो हम बलि भेंट चढावे, तो।उसीको चढाये।" उनकी यह सलाह सभी को पसन्द आई, इस सम्बन्ध मे यह कथा प्रसिद्ध है कि—देवराज इन्द्र को यह असह्य हो उठा और उन्होने ऐसा भीषण जल-प्रपात किया, मानो प्रलय का दिन आन उपस्थित हुआ हो। वृन्दावन वालों को बहुत घबराया हुआ देखा, तो श्री कृष्ण महाराज ने गोवर्धन पर्वत को उखाड छत्र की भांति वृन्दावन पर धारण कर लिया। इन्द्र अपना सा मुँह लेकर रह गया।

भगवान कृष्ण की ख्याति और कीर्त्ति दूर दूर तक फैल चुकी थी। अब कस को भी ज्ञात हो चुका था कि श्रीकृष्ण उस की भगिनी देवकी के ही पुत्र हैं। पापी था, हृदय काप उठा। दारुण चिन्ता-ज्वाला मे जलने लगा। चुपके से उन्हे मरवा डालना चाहा, इसलिए केशी और व्योम दो राक्षसो को भेजा। श्रीकृष्ण ने उन दोनो को ही ठिकाने लगा दिया। खुल्लम-खुल्ला भगवान् कृष्ण पर हाथ डालना प्राय: असम्भव था, प्रजा जो उनकी भक्त और प्रेमी थी, बिगड़ खड़ी होती। सेना की ओर से भी यही धड़का था कि श्रीकृष्ण का सामना नहीं करेगी।

निरुपाय हो छल पूर्वक मरवा डालने का सङ्कल्प किया। उस ने मथुरा के रहने वाले अक्रूर नामक एक गण्य-मान्य व्यक्ति।को जो दूर-पार में वसुदेव का भाई लगता था, श्रीकृष्ण को मथुरा मे

लाने के लिये वृन्दावन भेजा। उस को कंस का अभिप्राय ताड़ते देर न लगी। इस लिये उसने नन्द जी को राजा का सन्देश सुनाने के पश्चात् उसके हृदय के भाव भी उन पर प्रकट कर दिये। नन्द जी ने श्रीकृष्ण महाराज को उनके जन्म सम्बन्धी सारा वृतान्त सुनाया। कृष्ण महाराज ने उसी क्षण अपने भाई-बहनों का बदला चुकाने और कंस को उसके किये का फल चखाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। वह अक्रूर के साथ मथुरा में पधारे। नन्द जी, बलराम और बहुत से बलशाली गोप युवक भी उनके सङ्ग थे। कंस ने दिखावे के लिये कृष्ण भगवान के मथुरा मे आगमन के शुभ अवसर पर आनन्दोत्सव मनाया, जिस मे खेल तमाशो का भी प्रबन्ध किया।

मथुरा मे पहुँच कर श्रीकृष्ण ने पहले राजकीय धोबी को ठिकाने लगाया। इसके पश्चात् जब आप ने दंगल मे प्रवेश किया, तो पहले एक मदमस्त हाथी आपके ऊपर छोड़ा गया। आप उसको मार आगे बढ़े। चाणूर और मुष्टि इन दो जगत्-प्रसिद्ध, भीमकाय, मल्ल-विद्या-विशारद पहलवानो को कंस ने पहले ही सिखा-पढ़ा रक्खा था कि श्रीकृष्ण तथा बलराम को जीते न छोड़ना। अब श्री कृष्ण और बलराम से कहा गया कि वे दोनों अखाड़े मे उतरें। ये तो पहले ही जानते थे कि कंस के मन मे खोट है, अब और लोगो के क्रोध का कोई ठिकाना नहीं रहा, परन्तु अत्याचारी राजा के आगे किसका वश चल सकता था?

दोनो भ्राताओ ने लहू के प्यासे पहलवानो को क्षण भर मे ठिकाने लगा दिया। गोप-बालको ने अखाड़े में आकर हर्षातिरेक से गाना-नाचना आरम्भ कर दिया। अब क्या था ? कस के नेत्रो मे सारा ससार अन्धकारमय हो उठा। कड़क कर आज्ञा दी—"कृष्ण को तुरन्त देश निर्वासित कर दो, वसुदेव को कुत्ते की मौत मार डालो, और नन्द को पकड कर कारागार मे बन्द कर दो।" अत्याचार का घडा जो पहले ही भर चुका था, अब छलक गया। ऐसे अन्यायपूर्ण और अनुचित आदेश के पालन के लिये भला कौन आगे बढ़ता ? भगवान् कृष्ण कूद कर उस शामियाने तले जा पहुॅचे जहां कस बैठा था और उसे सिर के बालो से पकड़ बडे जोर से पृथ्वी पर दे पटका। कस के प्राण पखेरू उसी क्षण उड़ गये और विजय-माला श्रीकृष्ण के गले मे पड़ी। कस की मृत्यु का बदला चुकाने के लिये उसका भाई सुनामा आगे बढ़ा, पर वह भी अन्त में बलराम के हाथो मारा गया।

मथुरा वासियो ने, एक मत हो, राज-सिंहासन और मुकुट सभालने के लिये श्रीकृष्ण से कहा, पर उन्होने इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया। उन्होने अपने बूढे और अत्याचार-पीडित नाना उग्रसेन को कारागार से छुटकारा दिलाया और कहा—"कस के पापो का कोई पारावार न रह गया था। मैंने केवल उसके अन्याय-अत्याचार से प्रजा की रक्षा करने के निमित्त उस की हत्या की, मुझको राज्य-सुख-भोग की कामना नही है, और न मै अधिकार-प्राप्ति का ही इच्छुक हूँ।"

उस के पश्चात कंस की विधवा रानियों तथा अन्यान्य इष्ट जनों के चरणों में गिर उन्होंने अपने अपराध के लिये क्षमा-प्रार्थना की। जब कंस का दाह-कर्म संस्कार हो चुका, तब राजा उग्रसेन गद्दी पर बैठे। अब श्रीकृष्ण ने अपने माता-पिता को कारागार से छुड़ाया। जब नन्द जी ने उनसे वृन्दावन को लौट चलने के लिये कहा, तब आप बोले—"आप ही की कृपा से हमारा कुल विनष्ट होने से बच रहा है, नहीं तो कंस ने उसका अस्तित्व मिटा डालने, उसको नामशेष कर डालने में कौन सी कसर उठा रक्खी थी? आपके तथा माता यशोदा के उपकार मैं जीवन पर्यन्त कभी न भूलूँगा। किन्तु मेरे माता-पिता ने मेरे कारण आजतक जो असंख्य और असह्य दुःख, कष्ट, यंत्रणायें और विपत्तियां झेली हैं, वे आप से छिपी नहीं हैं। इस कारण अब आप से प्रार्थना है कि कृपापूर्वक मुझे अनुमति प्रदान करें कि मैं अपने माता-पिता की यत्किञ्चित् सेवा-शुश्रूषा कर अपना कलेजा ठण्डा कर सकूं।

निरुपाय हो नंद जी ने वृन्दावन की राह ली।

विद्या-अध्ययन करने की जो आयु थी, उसे श्रीकृष्ण वृन्दावन के जंगलों में ढोर-डंगर चराते और बंशी बजाते व्यतीत कर चुके थे, किन्तु अब उन्होंने अनुभव किया कि उनके लिये विद्या-धन उपार्जन करना अत्यन्त आवश्यक है, कारण, भली-भाँति शिक्षा-दीक्षा पाए बिना वह अपने श्रेष्ठ-पदोचित कर्तव्यों के सुसंपादित करने में असमर्थ रहते। वह संसार में लोगों को सन्मार्ग पर

लाने, और उनकी दशा सुधारने के लिये पधारे थे और शिक्षा प्राप्ति के बिना इस महान उद्देश्य की सिद्धि एक दुष्कर कार्य होता, इसलिये आप उज्जैन नगर के बाहर तपोवन मे सांदीपन ऋषि की सेवा मे उपस्थित हुए।

यहाँ श्रीकृष्ण और उनके सौतेले भाई बलराम जी कुछ काल तक ठहरे और शास्त्र और शस्त्र विद्याओ में खूब निपुणता प्राप्त की। योग्यता की तो पहले ही से कुछ कमी नहीं थी, अब समुचित शिक्षा ने उसको और भी चमका दिया। उन दिनो जितनी विद्याये तथा कलाएँ प्रचलित थी, श्रीकृष्ण उन सबमे पारगत और पूर्ण पण्डित होकर मथुरा में लौटे। महाभारत इत्यादि ग्रथो मे श्रीकृष्ण के पाण्डित्य तथा प्रगाढ़ विद्वत्ता का अपूर्व परिचय पाया जाता है। गुरु-दक्षिणा रूप से श्रीकृष्ण सांदीपन ऋषि के एकलौते पुत्र को पञ्चजन नामक एक विकराल राक्षस के हाथ से छुडाकर लाये। यह राक्षस एक बड़ी भारी मछली का रूप धारण किये प्रभास क्षेत्र तीर्थ में रहता था। विद्या-रत्न के अतिरिक्त गुरुकुल मे श्रीकृष्ण ने सुदामा जी जैसा अद्वितीय मित्र-रत्न भी पाया। श्रीकृष्ण-सुदामा की मित्रता सचमुच आदर्श और अनुकरणीय मित्रता थी।

कस की मृत्यु के पश्चात् उसकी दो विधवा रानियां अस्ति और प्राप्ति जो राजा जरासध की बहने थीं वैधव्य-काल व्यतीत करने के विचार से अपने भाई के यहां चली आईं, और श्रीकृष्ण के विरुद्ध उसको इतना भडकाया कि उनकी अनुपस्थिति में ही

जरासंघ ने भारी सेना लेकर मथुरा पर धावा बोल दिया। किन्तु सौभाग्यवश कृष्ण भगवान् ठीक समय पर मथुरा में पहुंच गये। वह यह विचार कर ही रहे थे कि अपने देश के सुधार का कार्य कैसे आरम्भ किया जाय, कि प्रकृति ने यह अनूठा अवसर आप ही सन्मुख उपस्थित कर दिया।

जरासंघ ने मथुरा पर एक-एक करके सत्रह बार आक्रमण किया, किन्तु प्रत्येक बार उसे परास्त हो भाग जाना पड़ा। अन्त को अठारहवीं बार जरासंघ भारी तैयारी के साथ आया और जो राजा उसके अधीन थे अथवा उसको कर देते थे, उन्हें और उनकी सेना को भी साथ लाया, यहां तक कि दोगला राजा कालयवन भी उसकी सहायता के लिये साथ आया। इस काल-यवन के अधीन म्लेच्छ तथा बर्बर जातियों के लोगों की बहु-संख्य सेना थी। इसबार दूरदर्शी भगवान् कृष्ण ने निश्चय किया कि टिड्डी दल सेना के साथ युद्ध करना आप ही अपना नाश करना है। इसलिये उन्होंने समुद्र के तट पर द्वारकापुरी बसाई, और एक सुदृढ़ गढ़ बनवा सब को वहां ले गये, और उसकी रक्षा का उचित प्रबंध करके आप मथुरा को लौट गये। कालयवन ने उनका पीछा किया, पर श्रीकृष्ण महाराज ने ऐसी युक्ति से काम लिया कि वह जल कर राख हो गया। इसके पश्चात् उचित अवसर पा श्रीकृष्ण ने जरासंघ और उसके सहायकों को भी पराजित करके छोड़ा।

विदर्भ देश के राजा भीष्मक की रूप-लावण्यमयी राजकुमारी रुक्मिणी के अद्भुत रूप-गुण की प्रशंसा सुनी, तो श्रीकृष्ण उस

पर मुग्ध हो गये। इधर रुक्मिणी भी तन-मन-प्राण से श्रीकृष्ण को प्यार करती थी। उसके पिता की भी यही इच्छा थी कि रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण के साथ हो, परन्तु रुक्मिणी का भ्राता रुक्मि जो बड़ा ही हठी प्रकृति का था, इस बात पर अड़ा हुआ था कि उसकी बहिन का विवाह चेदि-राज शिशुपाल के सिवा और किसी के साथ न हो। शिशुपाल राजा जरासंध का मित्र, सहायक तथा सेनापति था। भीष्मक पर भी उसका कुछ दबाव था, इस कारण उसी के साथ रुक्मिणी का विवाह होना निश्चित हो गया, और वह जरासंध को साथ लिये कुण्डिनपुर में आ धमका।

अब तो रुक्मिणी बहुत सिटपिटाई। वह मन-ही-मन अपना तन-मन-प्राण श्रीकृष्ण के चरणों में भेंट कर चुकी थी, किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह करना उसके लिये असम्भव था। इस लिये उसने पुरोहित द्वारा श्रीकृष्ण से ही सहायता पाने के लिये प्रार्थना की। श्रीकृष्ण ने उसकी प्रार्थना सहर्ष स्वीकार करली। जब विवाह के पहले दिन रुक्मिणी पूजा के बहाने अम्बिका भवानी के मंदिर में आई, तब श्रीकृष्ण ने एक ओर से निकल उसको रथ में चढ़ा लिया और वायु-वेग से ले उड़े। रुक्मि ने पीछा किया। श्रीकृष्ण उसे मारा ही चाहते थे कि रुक्मिणी ने हाथ जोड़ भाई के प्राण-रक्षार्थ प्रार्थना की और श्रीकृष्ण ने उसका अपराध क्षमा कर दिया। द्वारकापुरी में पहुँच कर श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी से विधि पूर्वक विवाह कर लिया।

द्रौपदी की स्वयम्वर-सभा में जब वीर-शिरोमणि अर्जुन ने मत्स्य भेद कर स्वयम्वर की शर्तें पूरी कर दिखाईं, तब राजे-महाराजे बहुत बिगड़े, कारण, अर्जुन और उसके भाई लाख के महल से निकल ब्राह्मणों का सा वेष धारण किये फिरते थे, और क्षत्रिय शासक-मण्डल ने इस बात को अपने लिये भारी अपमान जनक जाना कि इतने सारे क्षत्रियों की उपस्थिति में द्रौपदी एक कङ्गाल ब्राह्मण के पल्ले पड़े। इधर श्रीकृष्ण असल हाल से कब अपरिचित थे? उचित अवसर देख अपनी अत्याचार-पीड़ितों तथा दुर्बलों की सहायता की लीला दिखाई। अनेक असफल और हताश नृप मिल कर अकेले शूरवीर अर्जुन पर टूटा ही चाहते थे कि श्रीकृष्ण ने आगे बढ़ कर उसका पक्ष समर्थन किया। उनकी बात भला किसको मान्य न होती? इसलिये द्रौपदी ने वरमाला अर्जुन के गले में डाल दी। पाण्डवों की जननी कुन्ती कृष्ण भगवान् की फूफी लगती थी, इस कारण उस दिन से वह उनके मित्र, सहायक, परामर्शदाता तथा पथ-दर्शक हो गये।

एक बार अर्जुन से एक अपराध बन पड़ा था, इस लिये वह प्रायश्चित रूप से तीर्थ-यात्रा के लिये चले। मार्ग में एक जगह श्रीकृष्णसे उसकी भेंट हो गई। वह उसको अपने सङ्ग द्वारिकापुरी ले गये और उसके साथ अपनी बहन सुभद्रा का विवाह कर दिया। वीर-बालक अभिमन्यु ने इसी सुभद्रा के गर्भ से जन्मलिया।

कुछ दिनों पीछे नारद मुनि ने महाराज युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ रचाने का परामर्श दिया। उन्होंने श्रीकृष्ण से सलाह पूछी।

उन्होने उत्तर दिया कि नारद मुनि का प्रस्ताव कुछ अनुचित नहीं है, परन्तु सब से पहले राजा जरासध-को ठिकाने लगाना होगा, कारण. वह आज कल किसी को भी निगाह मे नही लाता, उसने छियासी राजाओ को कैद कर रक्खा है,और इस बात का इच्छुक है कि और चौदह शासकों को बन्दी बना एक भारी यज्ञ रचे, और उसमे इन सभी राजाओ की बलि चढ़ादे। उनकी सलाह सब को पसन्द आई और श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा भीम वेप घर जरासध की राजधानी मे जा पहुंचे। कई दिनो तक घोर सग्राम होता रहा। अन्त को यह दुष्ट-प्रकृति और अत्याचारी राजा मारा गया। श्रीकृष्णने उसके पुत्र सहदेव को मगध देश के राज सिंहासन पर बिठाया और सब लोग विजय-गर्व के साथ, आनंद-मग्न, इन्द्र-प्रस्थ मे लौट आए।

अब पाण्डवो ने यज्ञ की तैयारी की और यज्ञ सम्बन्धी कर्त्तव्यों के पालन के लिये इष्ट जन और मित्र नियत किये गये। श्रीकृष्ण ने यज्ञशाला के द्वार पर पहरा देने और ब्राह्मणो के पांव धोने का सेवा-कार्य अपने सिर लिया। अब अर्घ्य देन का समय आया, तो युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म पितामह ने कहा—"इस विराट् सभा मे जहां समस्त भारत के सुविख्यात् ब्राह्मण, धुरधर विद्वान्, वेदो के ज्ञाता, युद्ध-विद्या-विशारद सूरमे क्षत्रिय और वीरवर राजे और राजकुमार उपस्थित हैं, श्रीकृष्ण ही सब से बढ कर आदर तथा सन्मान पाने के अधिकारी हैं। वह सूर्य की भांति प्रकाशमान् हैं। इस कारण सब से पहले उन्हीं को अर्घ्य दो।"

धर्मराज युधिष्ठिर के इशारे से उसी क्षण सहदेव ने उठकर श्रीकृष्ण को अर्घ्य दिया। अब तो शिशुपाल मानों सिर से पांव तक भस्म हो गया। उसने श्रीकृष्ण की बहुत निंदा की और बकता-झकता यज्ञ-मण्डप से बाहर हो गया। युधिष्ठिर ने उसको ठण्डा करने और मनाने की बहुतेरी चेष्टा की, पर लातों के भूत बातों से भला कब मानते हैं ? जब भीष्म पितामह की भी उसने एक न सुनी, तब श्रीकृष्ण बोले—"शिशुपाल की माता के कहने से मैं आज तक उसके पूरे एक सौ अपराध क्षमा कर चुका हूँ, परन्तु अब हद हो चुकी है। जान पड़ता है उसके अत्याचारों का घड़ा भर चुका है।"

शिशुपाल और कृष्ण भगवान् दोनों अखाड़े में उतरे और एक-दूसरे पर झपट पड़े। शिशुपाल मारा गया। और विजय-लक्ष्मी ने श्रीकृष्ण के पाँव चूमे। युधिष्ठिर ने सत्कार पूर्वक शिशुपाल का अन्तिम संस्कार कराया, फिर उसके पुत्र को राज-तिलक दिया, उसके पश्चात् अपना राजसूय यज्ञ रचाया। यज्ञ समाप्त हो गया, तो पाण्डवों की अनुमति पा श्रीकृष्ण द्वारिकापुरी को लौट गये।

जिस समय युधिष्ठिर जूए में द्रौपदी को भी हार गये, उस समय दुर्योधन ने द्रौपदी को भरी सभा में बुलाया, और उसकी आज्ञा पा उसका भाई दुःशासन द्रौपदी को नंगा करने के लिये उस भरी सभा में ही उसकी साड़ी उतारने लगा। तब चारों ओर से निराश हो द्रौपदी ने सहायता के लिये श्रीकृष्ण को पुकारा। योगि-राज कृष्ण ने द्रौपदी के चीर को इतना बढ़ाया कि दुष्ट दुःशा-

सन उसे खींचता-खीचता हार गया। अनुपम ढँग से भगवान् ने द्रौपदी की लाज रक्खी।

पाण्डवो का तेरह वर्ष का वनवास पूरा हो चुका और श्रीकृष्ण के दुलारे भानजे अभिमन्यु तथा राजा विराट् की राजकुमारी उत्तरा का विवाह निर्विघ्न तथा सानन्द सम्पन्न हो चुका, तब एक दिन पाण्डवो के सहायक राजाओ की सभा लगी और यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि पाण्डवो ने अपना वचन पूरा कर दिखाया है, अब उन्हे क्या करना चाहिये? श्रीकृष्ण महाराज ने कहा—"दुर्योधन ने पाण्डवो के प्रति अत्यंत गर्हित और लज्जा-जनक बर्त्ताव किया है। पर इन लोगों ने अपनी सत्य-प्रियता तथा धर्म-पालन के लिये सभी दुःख-क्लेश प्रसन्नतापूर्वक सह लिये हैं। दुर्योधन कभी नरमी से मानने वाला नही, इस लिये एक दूत कौरवो की सभा मे भेजा जाय, और उनसे यह प्रार्थना की जाय कि पाण्डवो का राज्य उन्हें लौटा दिया जाय, किन्तु इसके साथ ही एक-एक दूत उन सभी राजाओ की सेवा मे भी भेजा जाय जो यहाँ नहीं पधारे हैं, और उनसे भी यह प्रार्थना की जाय कि यदि पाण्डवो को अपना पैतृक राज-पाट लौटा लेने के लिये सग्राम मे प्रवृत्त होना पड़े, तब यथा साध्य उनको सहायता प्रदान की जाय।" और हुआ भी ऐसा ही। धृतराष्ट्र तो नही चाहता था कि भाई-भाईयों में लहू की नदियाँ बहे,पर दुर्योधन न माना और दूत असफल लौट आया। दोनो ओर स खुल्लम-खुल्ला युद्ध की तैयारियाँ होने लगी।

कौरव तथा पाण्डव दोनो ही यह चाहते थे कि श्रीकृष्ण भगवान् उनकी सहायता करे। इसलिये पाण्डवो की ओर से अर्जुन और कौरवो की ओर से दुर्योधन एक ही दिन और लगभग एक ही समय मे श्रीकृष्ण की सेवा में उपस्थित हुए। दुर्योधन कुछ क्षण पहले उनके महल मे जा पहुँचा था। श्रीकृष्ण उस समय सुख-शय्या पर निद्रा-मग्न थे, इसलिये वह उनके सिरहाने की ओर एक चौकी पर जा बैठा। जब अर्जुन आया, तब तक भी वह सो ही रहे थे। वह चुपके से उनके पैरो की ओर जा बैठा।

श्रीकृष्ण की दृष्टि पहले अर्जुन पर पड़ी, पर दुर्योधन बोल उठा—"महाराज! पहले मै आया हूँ।" श्रीकृष्ण बोले—"मैं तुम दोनो ही की सहायता करूँगा। एक ओर मेरी दस लाख सेना होगी, और दूसरी ओर मै आप हूँगा। पर शर्त यह है कि न मै शस्त्र धारण करूँगा और न लड़ूँगा ही।" दुर्योधन ने उनकी दस लाख सुसज्जित और सुशिक्षित सेना लेना पसंद किया, और अर्जुन ने निहत्थे श्रीकृष्ण को। युधिष्ठिर तथा अन्यान्य सभी बुद्धिमान लोग अर्जुन के इस कार्य से अत्यन्त प्रसन्न हुए, कारण यह बात किसी से छिपी न थी कि श्रीकृष्ण सरीखा नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, विद्वान्, दूरदर्शी और प्रतापी व्यक्ति अन्य कोई नहीं है, और राज-नीति तथा धर्म-नीति को भी उनसे बढ़ कर कोई नही समझ सकता है। इस लिये यह निश्चय है कि जिधर वह होगे, सफलता—विजय-लक्ष्मी—भी उसी ओर होगी। यह बात सोलहो आने सच है कि महाभारत के घोर-संग्राम मे पाण्डव

कभी विजय लाभ न कर सकते, यदि श्रीकृष्ण भगवान् उनके सहायक न होते।

पाण्डवों की अब भी नितान्त अनिच्छा थी कि अपने ही बन्धुओं के रक्त से पृथ्वीतल को रञ्जित करें। उन्होंने कहा—यदि कौरव हम पाँचों भाइयों को केवल एक एक गाँव भी दे दे, तो हम उसी मे सन्तुष्ट हो जायेंगे, और जो कुछ अब तक हो चुका है, उस पर धूल डाल कौरव बन्धुओं से सन्धि कर लेंगे। श्रीकृष्ण भगवान् को भी यह बात बहुत पसन्द आई और दूत भेज हस्तिनापुर की राजसभा में यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया, पर सब व्यर्थ हुआ; दुर्योधन न माना। जो कुछ होने वाला था, वह श्रीकृष्ण से छिपा न था, फिर भी उन्होंने कहा कि एक बार मैं भी प्रयत्न कर देखूँ। पाण्डवों ने उन्हें बहुतेरा रोका, कहा—"महाराज! आप न जाइये, कहीं ऐसा न हो कि हमारे कारण मुँहफट दुर्योधन आप का निरादर व अपमान कर बैठे।" पर श्रीकृष्ण ने उनकी एक न सुनी।

वह हस्तिनापुर पहुँच कर विदुर जी की कुटिया में ठहरे। अगले दिन उन्होंने सभा में जाकर कौरवों को समझाया कि पाण्डवों का राज-पाट उन्हें लौटा दो। द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, विदुर इत्यादि गुरुजन भी उन से सहमत थे। धृतराष्ट्र को भी यह बात हृदय से स्वीकार थी, पर दुर्योधन ने किसी की एक न सुनी। बोला—"जो पाण्डवों ने कष्ट झेले हैं, तब फिर भला इसमें मेरा दोष ही क्या है? गीदड़-भभकियों से

भयभीत हो, राज्य दूसरे के हाथ में सौंप देना रणविजयी क्षत्रिय को नहीं, कापुरुष को ही शोभा देता है। मृत्यु-मुख में चले जाना पसन्द है पर पाण्डवों के सन्मुख सिर झुकाना स्वीकार नहीं। पाँच गाँव तो बहुत होते हैं, मैं पाण्डवों को इतनी भूमि भी न दूँगा, जितनी सुई की नोक !"

जब श्रीकृष्ण ने देखा कि नरमी से काम नहीं निकलता तब क्रोध में भर कर बोले—"दुर्योधन ! लाख का महल तुमने बनवाया, भीम को विष तुमने खिलाया, जुए का खेल तुमने रचाया, भरी सभा में अबला द्रौपदी का निरादर तुमने कराया फिर भी यही रट लगा रक्खी है कि तुम सर्वथा निर्दोष हो ! निश्चय ही तुम्हारी जीवन-लीला समाप्त हो आई है !"

इस पर दुर्योधन ने दुःशासन के साथ मिल श्रीकृष्ण को क़ैद कर लेना चाहा. पर भाँडा फूट गया। धृतराष्ट्र ने उसको बहुत लताड़ा और विदुरजी ने झिड़क कर कहा—"दुर्योधन ! तेरा यह दुःसाहस जो श्रीकृष्ण भगवान् पर हाथ डाले ! दुर्बुद्धि ! तू यह भी नहीं जानता कि बड़े-बड़े जगत-विजेता इन का नाम सुन काँप उठते हैं, और सारा संसार अगाध श्रद्धा तथा भक्ति के साथ इन के चरणों में सिर नवाता है !"

जब और कोई उपाय दिखाई न दिया, तब श्रीकृष्ण हस्तिनापुर से लौट आए। अब यथा नियम युद्ध की घोषणा हो गई। दुर्योधन ने भीष्म पितामह को अपनी सेना का अध्यक्ष नियत किया। नमक खाया था, नहीं तो हृदय भीष्म पितामह का भी पाण्डवों के ही

साथ था। पाण्डव-सेना की बाग-डोर धृष्टद्युम्न के हाथ मे थी। श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी बने, कारण वह पहले ही प्रतिज्ञा कर चुके थे कि न मैं आप लडाई मे प्रवृत्त हूँगा और न शस्त्र ही धारण करूँगा। उन्होने अर्जुन का रथ दोनो सेनाओ के बीच लेजाकर खडा कर दिया। चारो ओर जो असख्य सेना फैली हुई थी, अर्जुन ने उस पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डाली, तो उसका मन चिन्ता तथा भय के सागर मे डुबकियाँ खाने लगा।

उसने देखा—चारो ओर इष्टजन, बन्धु-बान्धव, मित्र, मामा, नाना, भाई, भतीजे, चाचे, गुरू, पुरोहित, छोटे और बडे खडे है। उसकी देह थर-थर काँपने लगी, मस्तक पर पसीने की बूँदे झलकने लगी। हाथ-पॉव शून्य हो गये, चहरे पर हवाइयाँ उडने लगी। एक रग आता था, दूसरा जाता था। धनुष हाथ मे छूट गया। वह भगवान को सम्बोधन कर कहने लगा—"महाराज! मै नही लड़ूगा। आप टुक विचार तो कीजिये कि मैं इन लोगो पर हाथ कैसे उठा सकता हूँ। इनके प्राण-हरण करके यदि मुझे तीनो लोक का राज्य भी मिले,तब उस पर भी लाख बार धिक्कार है। मुझे ऐसे राज्य की प्राप्ति की कामना नही है।"

इस अवसर पर श्री कृष्ण ने जो मनोहर और अमूल्य उपदेश अर्जुन को दिया वही 'भगवद्गीता' कहलाता है। यह एक अद्भुत शिक्षाप्रद पुस्तक है, जो इतनी लोकप्रिय हुई है कि ससार की सभी प्रधान भाषाओं मे इसके अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। सभी देशो तथा जातियो के बडे-बडे विद्वान

बड़े ही चाव, ध्यान तथा श्रद्धा के साथ इसका स्वाध्याय करते और शान्ति प्राप्त करते हैं। निस्संदेह यह ऐसी ही वस्तु है जो पुनः पुनः संसार वालों को नहीं मिल सकती। इसे वेदों तथा उपनिषदों के ज्ञान का सार जानो। भगवान् ने उपदेश दिया—

"शोक-विह्वल अर्जुन! सावधान हो। आत्मा को मारने वाला या मरने वाला समझना भारी भूल है। आत्मा नित्य है, अमर है, अविनाशी है। जिस प्रकार हम जीर्ण वस्त्र उतार कर नए वस्त्र धारण कर लेते हैं, वैसे ही आत्मा इस पञ्चभूत-निर्मित देह का चोला बदलती रहती है। यही परिवर्तन 'मृत्यु' के नाम से पुकारा जाता है। देह नश्वर है, क्षण-भंगुर है, किन्तु आत्मा का कभी नाश नहीं होता। न इसको शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है, और न हवा सुखा सकती है। फिर मरने से क्या डरना? और जिन लोगों के मारने से तू घबराता है, वे तो अपने कर्मों से आप ही मरे हुए हैं। मनुष्य के लिए उन सभी भले-बुरे कर्मों का पालन करना उचित है जिनके लिए वह इस संसार में आया है।

"अर्जुन! इस संसार में धर्म ही सब से श्रेष्ठ है। धर्म-पथ पर चलना मनुष्य का सब से बड़ा कर्तव्य है। मनुष्य को चाहिए कि अपने कर्तव्य से कभी विमुख न हो। कर्म करना मनुष्य का धर्म है। कर्म करो, पर इसके फल स्वरूप मिलने वाले सुख-दुःख का ध्यान तक भी मन में न लाओ। सच्चा ज्ञानी, तपस्वी और संन्यासी वही मनुष्य है जो अपने कर्म का फल भोगने की इच्छा के बिना

कर्म करता रहे। निष्काम कर्म करो और संसाररूपी झील में कमल के समान तैरो। कर्म ही सच्चा योग है, कर्म ही सच्चा तप है, कर्म ही सच्चा धर्म है।

"इस समय तू सब प्रकार के संशय और भ्रमात्मक विचार अपने मन से निकाल डाल, और तन-मन-प्राण से अपना कर्तव्य पालन कर। जो तू अपना यह कर्तव्य पालन नहीं करेगा तो निश्चय ही पाप का भागी बनेगा, कारण, जो पापी हैं, उन्हें उनके दुष्कर्मों का फल चखाना, उन्हें उचित दण्ड देना तेरा परम धर्म है। देख अर्जुन! जो तू रण-भूमि में खेत रहा, तो सीधा अमरपुरी में जायगा, और जो विजय-माला गले पड़ी, तब राज्य-सुख भोगेगा। फलतः, हे शूरवीर-शिरोमणि अर्जुन! अब उठ खड़ा हो और क्षत्रियोचित वीरता के साथ संग्राम में प्रवृत्त होजा।

श्रीकृष्ण महाराज के इस अमर और अद्वितीय उपदेश का अर्जुन के हृदय पर आशातीत प्रभाव पड़ा। वह समझ गया कि अपना कर्तव्य जो भी हो, जैसा भी हो, और जिस प्रकार भी सम्भव हो, पूरा करना उचित है, और अपने जन्मसिद्ध अधिकारों की प्राप्ति तथा अपनी रक्षा के हेतु लड़ना अयुक्ति-युक्त और न्याय-विरुद्ध नहीं है। अठारह दिन तक रण-क्षेत्र में लोहे से लोहा बजता रहा। लाखों सूरमे मृत्यु के घाट उतर गए, चारों ओर लहू की नदियाँ बह निकली, क्षत-विक्षत सैनिकों के ढेर लग गए। अड़तालीस कोस तक यही भयावह दृश्य देख पड़ता था। अन्त को विजय-लक्ष्मी ने पाण्डवों के चरण चूमे।

इस युद्ध में श्रीकृष्ण ने लोकोत्तर बुद्धिमत्ता राजनीतिज्ञता, दूरदर्शिता, शूरवीरता और कर्तव्य-परायणता का परिचय दिया। जो श्रीकृष्ण का पाँव बीच में न होता, तब पाण्डवों का विजय प्राप्त करना प्रायः असम्भव था। युद्धक्षेत्र रूपी ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर कृष्ण भगवान के असाधारण कृत्य सुवर्णाक्षरों में अङ्कित हैं।

सौ के सौ कौरव युद्ध-क्षेत्र में धराशायी हो चुके थे, इस लिये धृतराष्ट्र और गांधारी को समझाने तथा उन्हें सान्त्वना प्रदान करने के लिये पाण्डवों सहित श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे। युधिष्ठिर, अर्जुन,नकुल और सहदेव से गले मिलने के अनन्तर धृतराष्ट्र ने पूछा कि भीम कहाँ है। बात यह थी कि भीम ने दुर्योधन को यमपुर पठाया था, इसलिये धृतराष्ट्र चाहता था कि प्यारे पुत्र की मृत्यु का बदला चुकाए। पर श्रीकृष्ण पहले ही इस बात को जानते थे, इस कारण वह आते हुए एक लोहे का पुतला बनवाकर अपने साथ लेते आए थे। अब वही झट धृतराष्ट्र के सामने लाकर रख दिया गया। धृतराष्ट्र ने उसे सचमुच भीम समझा और खूब दाँत-होंठ पीस कर जोर से छाती से लिपटा लिया, जिससे वह मूर्ति पिचक के रह गई। इस संकीर्ण-चित्तता और निन्दित कर्म के लिये श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्र को खूब आड़े हाथों लिया और उपदेश भी दिया। इस पर धृतराष्ट्र ने प्रतिज्ञा की कि आगे को मैं पाण्डवों को पुत्रों की जगह जानूँगा और उनसे वैमनस्य सदा के लिये मन से दूर कर दूँगा।

इसके पश्चात् आपने गाँधारी से भेंट की। वह समझी कि इस सारे अनर्थ का मूलकारण श्रीकृष्ण को छोड़ और कोई नहीं है। इस लिये उसने श्रीकृष्ण को अभिशाप दिया—"जैसे तुम ने हमारे कुल का ध्वंस कराया है, उसी प्रकार तुम्हारा यदुकुल भी नामशेष हुए बिना न रहेगा।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"जो आपको यही स्वीकार है, तब भला, इसी तरह सही, किन्तु इसमें मेरा कुछ भी दोष नहीं है। मैं नहीं चाहता था कि युद्ध हो। मैंने बहुतेरा प्रयत्न किया कि भाई-भाइयों में सन्धि हो जाय, द्वेष भाव न रहे, किन्तु दुर्योधन ने अपना अनुचित हठ न छोड़ा। इस पर भी मैंने कौरवों तथा पाण्डवों दोनों की सहायता की, जो जिसने माँगा, सहर्ष उपस्थित कर दिया।"

इसके पश्चात् युधिष्ठिर को राजतिलक देकर श्रीकृष्णने द्वारिका को प्रस्थान किया। अबकी बार जाने से पूर्व आपने युधिष्ठिर को जो उपदेश दिया, वह 'अनुगीता' के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें यह दिखाया और समझाया गया है कि मनुष्य-जीवन क्या वस्तु है और उसके कर्तव्य क्या हैं। आप हस्तिनापुर में उस समय फिर आए जब परीक्षित ने जन्म लिया और उसे जीवन प्रदान किया। एक बार देवराज इन्द्र ने आकर नरकासुर के अत्याचारों की शिकायत की, कृष्ण भगवान् ने सुदर्शन-चक्र चला कर उसका सिर काट डाला। इसी प्रकार एक बार उनकी बाणासुर नामक एक महाबलशाली राक्षस से ठन गई, किन्तु अन्त में उसको भी

हार माननी पड़ी। राजा नृग गिरगट का रूप धारण किये अपने पापों का दण्ड भोग रहा था। श्रीकृष्ण महाराज ने उसका भी उद्धार किया।

भगवान् कृष्ण के जन्म का उच्चतम उद्देश्य देश में शान्ति-स्थापन, अधर्म का नाश और धर्म की महिमा बढ़ाना था, और वह जीवन पर्यन्त इसी उद्देश्य की पूर्ति में प्रयत्नशील रहे। उन्होंने भारत के पापियों का संहार किया और कराया, परन्तु दुष्टों का एक दल अभी बाकी था, जिसमें उन्हीं के पुत्र-पौत्र और कुल के लोग सम्मिलित थे। यदि वह उनको उचित दण्ड न देते और उनका अस्तित्व अवनितल से मिटा न डालते, तब कदाचित् संसार उनके इस पवित्रतम उद्देश्य को इतने आदर की दृष्टि से न देखता, पर उन्होंने अपनी शिक्षा को कार्य रूप में संसार के सन्मुख उपस्थित कर दिया। कौरव उनके निकट सम्बन्धी थे, उन्हें नष्ट कराया तो स्वयं अपने पुत्रों और पौत्रों को भी उनकी करनी का फल चखाए बिना सुख का सांस नहीं लिया। यही कारण है कि समस्त संसार उन्हें सच्चा उपदेष्टा और पथ-दर्शक मानता है। श्रीकृष्ण उनको प्रभास तीर्थ पर ले गये। यदुकुल राजकुमार मद-मत्त हो आपस में लड़ कर कट मरे। उसी समय बलराम जी भी चल बसे, और अकेले श्रीकृष्ण बाकी रह गये।

अब श्रीकृष्ण समझ गए कि संसार में मेरी उपस्थिति की आवश्यकता नहीं रही, अधर्म की जगह धर्म के राज्य की स्थापना करके मैं अपना कर्तव्य पालन कर चुका। इसलिए वह लौट

कर द्वारिकापुरी को नहीं गए। उन्हों ने अर्जुन के निकट यह सदेश भेजा कि द्वारिका की असहाय और विधवा राजकुमारियो को हस्तिनापुर में अपने आश्रय में लाकर रक्खे और उनकी रक्षा करे। इस के बाद वह इष्टजनो के शव-समूह पर उचटती हुई निगाह डाल पाँव-पाँव एक ओर को चल दिए। थोडी दूर जा कर आप एक हरे-भरे वृक्ष की छाया मे ठहरे और वहीं लेट कर सो गए। थोड़ी देर पीछे उस राह से होकर एक व्याध आ निकला। श्रीकृष्ण के पद-तल में जो पद्म था, उसकी ज्योति बहेलिए को मृग के नेत्र की सी चमक मालूम हुई, और वह समझा कि झाड़ियो से घिरे हुए वृक्ष के नीचे पत्तियों की आड मे कोई शिकार है, और झट निशाना बाँध कर तीर छोड़ दिया। पर जब वह निकट आया तो देखता क्या है कि भ्रमवश उसने एक आदमी को अपने बाण से घायल कर डाला है। उसको घोर सन्ताप ने आ घेरा, वह हाथ जोड़ बार-बार क्षमा-प्रार्थना करने लगा। श्रीकृष्ण महाराज बोले—"तुम्हारा इसमें कुछ भी दोप नहीं है। जो होना था—होकर रहना था—अन्त को वही हुआ। जाओ अपना काम देखो।"

उसी क्षण कृष्ण भगवान ने अपनी इहलोक-लीला समाप्त करदी!

योगीश्वर श्रीकृष्ण अधर्म का अन्धकार दूर करके धर्म की ज्योति-छटा ससार में फैलाने के लिये यहाँ पधारे थे। उनके जीवन का प्रकृत उद्देश्य धर्म की महिमा बढाना था, सो जैसे भी धन

पड़ा, वह सवा सौ वर्ष संसार में रह कर अपने इस उद्देश्य को पूर्ति कर गए। यही कारण है कि करोड़ों हिन्दू उन्हें परमात्मा का सोलह-कला पूर्ण अवतार मान, हार्दिक श्रद्धा और भक्ति पूर्वक उनकी पूजा करते हैं, और आज पांच सहस्र वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उनको अत्यन्त आदर-पूर्वक स्मरण करते हैं।

भगवान् कृष्ण ने देश-भक्ति का अनुपम उदाहरण उपस्थित किया है। वह जीवन पर्यंत, तन-मन-प्राण से, देश तथा जाति की सेवा में प्रवृत्त रहे। इसके अतिरिक्त वह स्त्री-जाति की स्वाधीनता, विधवा-विवाह, गो-रक्षा इत्यादि के बड़े ही पक्षपाती और जाति-पाँति के भेद-भाव के कट्टर विरोधी थे। भौमासुर के साथ जो युद्ध हुआ था, उस में आप सत्यभामा जी को भी साथ ले गये थे, पर्दे की कुछ भी परवाह नहीं की। जब आप पाण्डवों के दूत बनकर धृतराष्ट्र की राज-सभा में गए, तब क्षत्रिय दुर्योधन के यहां का भोजन अस्वीकार कर शूद्र विदुर जी का भोजन रुचि-पूर्वक ग्रहण किया। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का विवाह श्रीकृष्ण तथा अन्यान्य यदुवंशियों की स्वीकृति और अनुमोदन से रति के साथ हुआ था। वह विधवा थी। श्रीकृष्ण का असाधारण गो-प्रेम भला किस से छुपा है? इसीलिये वह "गोपाल" कहलाते हैं। आप इस बात के भी पक्ष में थे कि कन्या जिस आदमी को पसंद करे, उसी के साथ उसका विवाह होना चाहिये। उन की भगिनी अर्जुन को सच्चे हृदय से प्रेम करती थी, इसी लिये उन्होंने उन दोनों का विवाह रचा दिया था।

श्री कृष्ण की शिक्षा

श्रीकृष्ण भगवान् ने किसी नये मत की नीव नहीं डाली, और न किसी प्रचलित अथवा अप्रचलित मत का ही प्रचार किया प्रत्युत् आप अधर्म का नाश करके धर्म-राज्य स्थापन करने के लिए ससार मे पधारे थे। आप ने गीता मे कहा है कि "जब-जब पृथ्वी पर धर्म क्षीण होकर अधर्म बल पकड़ जाता है, उस समय अधर्म को दूर करके फिर से धर्म की महिमा स्थापन करने के लिए, दीन-दुखियारो के त्राण तथा दुष्टो के सहार के लिए महान् आत्मा अवतरित होती रहती हैं।"

कृष्ण भगवान् की शिक्षा का सारांश बस ये ही दो शब्द हैं—निष्काम कर्म। उन्होने सदा, सभी जगह, सब को यही उपदेश दिया कि कर्म करो, पर उसका फल पाने की इच्छा न करो। कर्म करो, पर उसका फल ईश्वर के अर्पण कर दो। उसके फल से तुमको कुछ भी प्रयोजन नही होना चाहिए। तुम्हें एक मात्र कर्म करने का अधिकार प्राप्त है। उन्होंने अर्जुन से कहा था—"हे कौन्तेय ! सुख-दुःख, हानि-लाभ, हार-जीत, सब को एक समान जान युद्ध मे प्रवृत्त हो जा, कारण, केवल इसी बात से तू पाप का भागी बनने से बच सकता है। फल पाने की इच्छा मन में स्थान दिए बिना कर्म करना ही सर्वोत्तम योग और सर्वश्रेष्ठ तप है।"

प्रेम, सहनशीलता तथा क्षमा करने का जैसा अनुपम उपदेश हमे श्रीमद्भगवद्गीता से मिलता है और कही नही मिलता। कृष्ण भगवान् कहते हैं कि जीवन-संग्राम मे सब को पुरुषोचित वीरता के साथ योग देना चाहिए, आलस्य या अकर्मण्यता का जीवन व्यतीत करना उचित नही। यह ससार कर्म-क्षेत्र है। मनुष्य-जीवन के अस्तित्व का आधार-रूप यही कर्म हैं। मनुष्य-कृत कर्म अपने फल के स्वरूप मे बने रहते हैं तथा वे फल नवीन कर्मों की उत्पत्ति का कारण बन जाते हैं। मनुष्य मरता है, परन्तु उसके किए हुए कर्म कभी नष्ट नही होते।

राज्य आदि के त्याग मात्र से मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। सब से बड़ा त्याग यह है कि मनुष्य का मन और उसकी इन्द्रियां पूर्णतया उसके वश मे हो।

इस ससार मे धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। धर्म-मार्ग पर चलना मनुष्य का सब से बड़ा कर्तव्य है। अपना धर्म चाहे कैसा ही बुरा और दूसरे का धर्म चाहे कैसा ही अच्छा लगता हो, इस बात का अपने मन मे कभी ध्यान भी नही लाना चाहिए, वरन मन से, वचन से और काया से, सर्वदा अपने कर्तव्य-पालन मे लगे रहना चाहिये। और यह धर्म आप क्या वस्तु है? अपने शुभाशुभ सभी कर्तव्यो का यथासाध्य पालन करना। जो मनुष्य तन-मन-प्राण से वह कार्य करता है जो सृष्टि-नियमो के अनुसार उसको सौंपा गया है, और उसके पूरा करने मे अपनी समस्त शक्तियो का समावेश कर देता है, वह किसी पाप का भागी नहीं होता। इस

कारण मनुष्य के लिये हरदम आवश्यक बात यही है कि जो भी उसका कर्तव्य हो उसको पालन करे।

जो मनुष्य कर्म करके उसका फल भगवान् के अर्पण कर देता है, जो भगवान् पर भरोसा रखता है, जो समदृष्टि है और जिसके मन में किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष का लेश मात्र भी नहीं है, भगवान् का वह भक्त भगवान् में जा मिलता है। श्रीकृष्ण भगवान् की दिव्य शिक्षा भली-भांति समझने के लिये "गीता" का निरीक्षण और पारायण अत्यन्त आवश्यक है।

प्राचीन वैदिक, सनातन हिन्दू धर्म के सभी सिद्धान्त ऐसे हैं जो इस विशाल और उच्च धर्म के अनुयायियो को अहिंसा तथा सहन-शीलता की अनुपम शिक्षा देते हैं, ये हिन्दूओं को प्राणिमात्र से प्रेम करना सिखलाते हैं।

---:o:---



भगवान् बुद्ध

[२]

बुद्ध भगवान्

आज से प्रायः पचीस सौ वर्ष पूर्व कपिलवस्तु मे शुद्धोदन नामक एक बड़ा ही न्यायनिष्ठ, प्रजापालक, दयालु और धर्मात्मा राजा राज्य करता था। कलिदेश के राजा की दो पुत्रियों— राजकुमारी माया तथा राजकुमारी प्रजापति—के साथ उसका विवाह हुआ था किन्तु चिरकाल तक राजा को सन्तान का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। कुछ काल अनन्तर पटरानी माया ने चार अद्भुत् स्वप्न देखे। दूर तथा निकट के चौंसठ सुयोग्य ज्योतिषाचार्यों को राजसभा मे बुलवा कर उनसे उन स्वप्नो का अर्थ पूछा गया। ज्योतिषियों ने ध्यान पूर्वक विचार कर निवेदन किया:—

"महाराज! ये स्वप्न निःसंदेह बड़े ही शुभ हैं। बहुत शीघ्र आप के यहां एक पुत्र-रत्न उत्पन्न होगा, जो बड़ा ही सौभाग्यशाली महाप्रतापी और तेजस्वी होगा। पर एक बात है, संभव है वह घर-बार छोड़, संसार से मुख मोड़, संन्यासी हो जाय और संसार का दुःख-ताप दूर करने, उसको गहरे अन्धकार के गढ़े से निकालने के लिये चहुँ-ओर उपदेश देता फिरे। चाहे जो हो, बड़े-बड़े प्रतापी राजा उसके सन्मुख सिर झुकायेंगे, और सारा संसार उसका आदर करेगा।" हुई भी वही बात!

ईसा मसीह से ५५७ वर्ष पहले महाराणी माया के गर्भ से एक पुत्र-रत्न ने जन्म लिया, जिसका नाम सिद्धार्थ कुमार रक्खा गया। राजकुमार सिद्धार्थ के जन्म लेने के एक ही सप्ताह पीछे महाराणी माया परलोक सिधारीं और उनके लालन-पालन का भार उनकी सौतेली माता प्रजापति ने अपने सिर ले लिया। वह बड़े ही स्नेह और प्यार तथा सावधानता पूर्वक इस मनोहर बालक के पालन-पोषण में दत्त-चित्त हो गई।

भगवान् बुद्ध देव बहुत से नामों से प्रसिद्ध हैं, जैसे बुद्ध, सिद्धार्थ, गौतम, शाक्यमुनि, शाक्यसिंह, जिन, भागवत् इत्यादि। इन के अतिरिक्त और भी कई नाम हैं जिन से इन के अनुयायी और श्रद्धालु भक्त इन्हें सम्बोधन करते हैं। होनहार पूत के पांव पालने से ही दिखाई पड़जाते हैं, यह कहावत बुद्ध देव पर सोलहो आने चरितार्थ होती थी। वे बाल्यवस्था से ही बड़े धीर-गंभीर और दयालु स्वभाव के थे।

ज्येष्ठ मास में कपिलवस्तु में एक उत्सव मनाया जाता था, जब राजा अपना हल लेकर खेत में जाता और भूमि जोतता था। जब सिद्धार्थ कुमार की आयु दस वर्ष की हुई, तो सब लोग उन्हें भी उत्सव मनाने के लिये साथ ले गये। एक जामुन के पेड़ तले शामियाना लगाकर राजकुमार को उसके नीचे एक पलँग पर बिठा दिया। दास और परिजन भी बहुत से साथ थे, किन्तु वे सब एक-एक करके मेला देखने चले गये। जब बहुत देर पीछे उन्हें राजकुमार का ध्यान आया, तो हाँपते-काँपते पीछे की ओर भागे।

आकर देखते क्या हैं कि सिद्धार्थ कुमार एक योगी के समान आसन लगाए, नेत्र बंद किये बैठे हैं, लोक वा परलोक की उन्हें कुछ भी सुध नहीं है।

पाँच वर्ष की अवस्था से ही सिद्धार्थ कुमार ने पढ़ने-लिखने का अभ्यास आरंभ कर दिया था। जब तक उनकी आयु दश वर्ष की हुई, वह अनेक शास्त्रों और विद्याओं में पारंगत हो चुके थे। अब उन्होंने युद्ध-कला, धनुर्विद्या, भाला चलाना, घोड़े की सवारी, तलवार चलाना, इत्यादि वे सभी बातें सीख ली, जिन में निपुणता प्राप्त करना उन दिनो राजकुमारो के लिये उपयोगी तथा आवश्यक समझा जाता था। सिद्धार्थ का एक सौतेला भाई था, जिसका नाम नन्द था, और उनका एक चचेरा भाई भी था, जिसको लोग देवदत्त कह कर पुकारते थे। यह दोनों भी सिद्धार्थ कुमार के साथ ही पढ़ते, लिखते और खेलते थे, पर देवदत्त बड़ी ही दुष्ट प्रकृति का बालक था। उसे यह एक आँख भी नही भाता था कि लोग सिद्धार्थ कुमार के शुभ गुणों की प्रशंसा करें। वह मन-ही-मन उनसे डाह रखता था, और आजीवन उनका विरोधी बना रहा। सिद्धार्थ कुमार बाल्यावस्था से ही बड़े ही कोमल-हृदय और दयालु-चित्त थे। एक दिन देवदत्त ने एक हंस के तीर मारा। वह फड़फड़ा कर तुरत नीचे आ पड़ा। सिद्धार्थ ने उसे प्यार से उठाकर छाती से लगा लिया, और धीरे से बाण निकाल कर लहू पोंछ डाला। देवदत्त ने आकर हंस माँगा, तब आपने कहा—"यह पक्षी मेरा है, कारण, मैंने इसकी प्राण रक्षा

की है। तुमने तो इस की हत्या कर डालने में अपनी ओर से कोई कसर उठा नहीं रक्खी थी।" उनसे किसी का दुःख-कष्ट नहीं देखा सहा जाता था। बुद्ध देव की दयालुता की सैकड़ों कहानियाँ प्रचलित हैं।

अब सिद्धार्थ कुमार ने यौवन-काल में पदार्पण किया। राजा-रानी दोनों को यही चिन्ता थी कि कहीं राजकुमार दुनियाँ से मुँह-मोड़, गृहस्थ-जीवन के झमेले छोड़, साधु-संन्यासी न बन जाय, इसी कारण राजकुमारी यशोधरा के साथ उन्होंने सिद्धार्थ कुमार का विवाह रचा दिया। राजकुमार भोग-विलास में रत हो गया। चार-पाँच वर्ष तक यही दशा रही। सिद्धार्थ के चाचा तथा अन्यान्य लोगों को यह बात असह्य हो उठी कि शाक्य वंश का प्रतापी राजकुमार अपना सारा समय भोग-विलास में बिताए। उन्होंने कहा कि राजकुमार को युद्ध-विद्या तथा राजनीति में निपुण होना चाहिये, नहीं तो उनसे देश अथवा देशवासियों का भला क्या कल्याण होने की सम्भावना हो सकती है? जब राज्य में गृह-कलह की भयङ्कर अग्नि प्रज्वलित हो उठे, तब फिर उसकी ज्वालाओं को कौन बुझायेगा? और यदि बाहर से ही कोई शत्रु चढ़ आए, तो फिर हमारी ओर से सेनापति और पथ-दर्शक का उत्तर-दायित्व-पूर्ण पद कौन ग्रहण करेगा? पिता ने यह बात राज-कुमार के कानों तक पहुँचाई। फल यह हुआ कि शाक्य वंश के राजकुमारों की परीक्षा के लिये एक दिन नियत हुआ। सिद्धार्थ ने ऐसी योग्यता का परिचय दिया कि दर्शकगण उनकी अद्भुत राज-

नीतिज्ञता, असाधारण रण-कौशल तथा अपरिसीम शारीरिक बल का लोहा मान गये और साधुवाद की गूँज से आकाश और पृथ्वी दोनो हिल उठे। तब बुद्धदेव की आयु उन्नीस वर्ष की थी।

विवाह के बाद सिद्धार्थ कुमार ने दस वर्ष तक भोग-विलासमय जीवन व्यतीत किया, किन्तु ज्योतिषाचार्यों की भविष्य-वाणी के अनुसार बीसवे वर्ष के लगते ही उनके जीवन मे परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था। कभी-कभी वह एकान्त में बैठ कर इस बात पर विचार किया करते कि क्या इस ससार मे सभी लोग मेरे ही समान सानन्द और सुखपूर्वक हैं? क्या सभी के हाथ मे इतना धन-द्रव्य है, जो बैठे-बिठाये उनकी सभी मनोकामनायें पूर्ण हो सके? और जो यह बात नहीं है, तब क्या यह मेरा कर्तव्य नही है कि मैं सबको अपने ही समान सुखी बनाने की चेष्टा करूँ? धीरे-धीरे यह भाव उनके मन में जड़ पकड़ गया कि मैं संसार मे कोई महान् और असाधारण कार्य करने के लिये आया हूँ। राजा को भय था कि कहीं राजकुमार गृह-त्याग न कर दे, इस कारण उसने अत्यन्त सावधानतापूर्वक ऐसा प्रबन्ध कर दिया, कि कोई भी ऐसी वस्तु उनके सन्मुख न आने पाए, जिसको देखकर उनके मन में दुःख, भय वा ताप का भाव उत्पन्न हो। यही कारण था कि सिद्धार्थ कुमार को आज तक यह भी ज्ञान नही हो पाया था कि—दुःख क्या है, रोग क्या है और मृत्यु क्या है।

एक दिन सिद्धार्थ कुमार रथ में बैठ घूम-फिर आने के लिये निकले तो मार्ग मे उन्होंने एक बूढे आदमी को देखा, जिसको

एक पग चलना भी दूभर हो रहा था, जो डग्-डग् हिलता था। उसके केश पक कर सन हो गये थे, नेत्र भीतर को धँस गये थे। देह में कहीं नाम को भी मांस न था, शरीर सूख कर केवल अस्थि-पञ्जर रह गया था। राजकुमार ने अपने सारथि चन्दा से पूछा—"इस व्यक्ति की दशा और लोगों से भिन्न क्यों है?"

चन्दा ने हाथ जोड़, सविनय निवेदन किया—"महाराज! पहले यह भी आप ही के समान सबल शरीर और हृष्ट-पुष्टाङ्ग था। वृद्धावस्था में सभी की यही दशा हो जाती है।"

यह सुन सिद्धार्थ ने आज्ञा दी, रथ लौटा ले चलो, और आप किसी विषम चिन्ता में मग्न हो गये।

अगले दिन आप बाहर निकले, तो एक रोग-पीड़ित मनुष्य सामने आ गया। उन्हों ने चन्दा से पूछा—"इस मनुष्य की ऐसी दशा क्यों हो गई है?"

चन्दा ने उत्तर दिया—"महाराज! यह किसी रोग के चुङ्गल मे फँसा हुआ है। यह कोई भी नहीं कह सकता कि वह कभी भी किसी रोग का शिकार नहीं होगा। संसार में अनेक इससे भी अधिक कष्ट-प्रद, भयानक तथा सांघातिक रोग पाए जाते हैं।

राजकुमार बोले—"महल को लौट चलो, मैं अब आगे नहीं जाऊँगा।"

वह मन-ही-मन-सोचने लगे, ।"जब तक इन रोगो से बचाव का कोई उपाय मालूम न कर लिया जाय, सुख-आनन्द, भोग विलास सब निष्प्रयोजन और अर्थ-रहित हैं।"

अगले दिन वह वायु सेवन को गये, तो सामने से लोग एक मुर्दे को उठाए ले जाते दिखाई दिए। पूछने पर सब हाल मालूम हुआ। अब तो वह बहुत उदास हो गये। मन में विचार उत्पन्न हुआ—"इस अनित्य जीवन के, जो जल के बुलबुले के समान क्षण-भङ्गुर और अस्थायी है, जो चार दिन से अधिक टिकने वाला नहीं है, प्यार को अपने हृदय में किस लिये स्थान दे? यह मनुष्य जीवन क्या है? केवल मात्र एक स्वप्न है—जो देखते-ही-देखते विलीन हो जाता है! यह असार-ससार दिल लगाने की जगह नहीं है!

दूसरे दिन उन्होंने एक संन्यासी को देखा उसने गेरुए वस्त्र धारण कर रक्खे थे और कमण्डल हाथ में था। प्रकाश्य भाव से वह गरीब देख पड़ता था, पर चित्त की शान्ति तथा सन्तोष-धन से मालामाल था। सिद्धार्थ के प्रश्न करने पर चन्ना ने उन्हें बतलाया कि यह मनुष्य सन्यासी, गृह-त्यागी है; यह गृहस्थी के झमेलों और सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो चुका है। सिद्धार्थ कुमार मन-ही-मन सोचने लगे

"निश्चय ही, मैं भी ऐसा ही करूँगा, जैसा इस संन्यासी ने किया। घर-बार, माता-पिता, भाई-भगिनी, पुत्र-पत्नी, मित्र और बन्धु, सब की ओर से मुख मोड़, स्थिर-चित्त हो ज्ञान प्राप्त करूँगा, और संसार को दुःख-रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु से बचाव का उपाय बताऊँगा। मेरे इस जीवन का उद्देश्य यही है।"

उसी दिन उनके घर में पुत्र-जन्म हुआ। वह सोचने लगे—

"यह एक नया बंधन है। इसको तोड़ना सुकर और सहज कार्य नहीं है। यह मेरे कर्तव्य-पालन के मार्ग में बाधा उपस्थित करेगा, इस कारण यह मेरा पुत्र नहीं है, वरन शत्रु है। मुझे आज ही यहाँ से निकल भागना चाहिये।"

जब आधी रात का समय हुआ, तो सिद्धार्थ ने चन्दा को बुला कर घोड़ा लाने के लिये भेजा। उनकी इच्छा हुई कि घर-बार छोड़ने से पहले एक बार पुत्र को प्यार कर लें, इस कारण उन्होंने यशोधरा के द्वार पर उपस्थित हो भीतर की ओर झाँका। देखा कि यशोधरा नवजात शिशु के मस्तक पर हाथ धरे बे-सुध पड़ी सोती है। सिद्धार्थ ने सोचा, जो मैं इसका हाथ हटाने की चेष्टा करूँगा तब यह ज़रूर जाग उठेगी और फिर मुझे जाने नहीं देगी। फल यह हुआ कि वह उन्ही पैरो वहाँ से लौट गए, और घोड़े की पीठ पर बैठ वन को प्रस्थान किया।

सांसारिक मोह-माया ने अपना जाल फैलाया, इन्द्रिय-सुख-भोग की कामना ने बहकाया, पर सिद्धार्थ कुमार जो कुछ मन में एक बार ठान चुके थे, उसको पूरा किये बिना छोड़ना उन्हें सह्य न हो सका! नगर के बाहर पहुँच कर वह घोड़े से उतर पड़े, तलवार से अपने चिकने-चुपड़े, सुन्दर केश काट डाले, राजसी पोशाक उतार डाली और उसको एक भिक्षुक की फटी-पुरानी गुदड़ी से बदल लिया। सत्य को खोज निकालने के लिये, प्राणि-मात्र का दुःख-कष्ट निवारण करने के लिये, उदारचरित्र राजकुमार ने आज अपना सर्वस्व त्याग दिया। स्वेच्छा तथा हर्षपूर्वक भिक्षुक

बन बैठा ! ऐसे अपूर्व, ऐसे महान् त्याग की पुण्य कथा संसार के अन्य किसी भी देश में देखने-सुनने को नहीं मिलती ! अस्तु। चन्दा ने उन्हें अपने साथ लौटा ले जाने का भरसक प्रयत्न किया, पर सब निष्फल हुआ। निरुपाय हो वह रोता-पीटता राजधानी को लौट गया और राजा-रानी को यह दारुण, जिगर को टूक-टूक कर देने वाला संवाद जा सुनाया।

सिद्धार्थ ने अपने पिता के राज्य की सीमा के अन्तर्गत अथवा उसके आस-पास रहना उचित न जाना और गंगा को पार कर मगध देश की राजधानी राजगृह मे जा पहुँचे। वहाँ उनकी मगधा-धीश राजा बिम्बसार से भेंट हुई। उसने एक भारी यज्ञ रचा था, जिसमें बहुसंख्य अनबोल पशुओं की बलि दी जाने वाली थी। सिद्धार्थ कुमार ने बिम्बसार को समझाया—"देवता यदि बलिदान से सन्तुष्ट और प्रसन्न होते हैं, तो निश्चय मानो, अनबोल निरप-राध जीवों के बध को वे कभी भी पसन्द नही करते होंगे। जो कार्य आपने आरम्भ किया है, वह सच्चा यज्ञ नहीं है। सच्चा यज्ञ, सच्चा बलिदान झूठ, कपट, हिंसा तथा अन्यान्य पापों का बलिदान है।" राजा बिम्बसार के मन पर उनके उपदेश का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने तब तक उन्हें जाने न दिया, जब तक उन से यह वचन न ले लिया कि जब वह ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, तो यहाँ आकर मुझे भी उसका उपदेश देंगे।

राजगृह नगर चारों ओर पाँच पर्वतो मे घिरा हुआ था। उनमें से एक का नाम गृध्र-शिखर था, जिस की चोटी पर अनेक

खोह तथा गुफाएँ थीं। उनमें कितने ही साधु-सन्यासी रहा करते थे। सिद्धार्थ ने भी वहीं एक गुफा में जा डेरा लगाया। पहले वह 'अलार्क' मुनि के शिष्य बने, उसके अनन्तर 'उदक' मुनि से योग की सारी प्रक्रियाएँ सीखीं परन्तु जब देखा कि मैं उद्दिष्ट स्थान की दिशा में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सका हूँ, तब उन्होंने व्रत और तपस्या की ठानी। वह 'उरुवेल' वन में जा ठहरे और तन-मन से अत्यंत कठोर तपस्या में मग्न हो गये। वह बड़ा ही घना और भयावह वन था जिसमें हिंसक पशुओं का कुछ ठिकाना ही न था।

इस वन में पाँच साधु उनके शिष्य हो गये। तप करते-करते उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया। छः वर्ष तक तप किया। निरन्तर तपस्या के कष्ट झेले, साधना की, घोर असुविधाएँ सिर पर सही। खाना-पीना सब छोड़ दिया केवल एक चावल प्रति दिन खाते थे। परन्तु जब ध्यानपूर्वक विचार किया, तो उन्हें पता चला कि अपने उद्दिष्ट स्थान से वह अब भी कोसों दूर हैं। जब उन्हों ने यह अनुभव कर लिया कि इस मार्ग पर चलने से ज्ञान-प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है, तब उन्हों ने धीरे-धीरे भोजन करना आरम्भ कर दिया और कठोर तपस्या का अभ्यास छोड़ दिया।

वह समझ गये कि लौकिक तथा पारलौकिक सुख के ताले की प्रधान चाभी इस अनुपम मनुष्य शरीर को छोड़ और कोई नहीं है, इस कारण इसके प्रति उपेक्षा अथवा असावधानता

प्रशंसनीय कार्य नहीं कहला सकता। इस लिये अब वह दोनों 'अतियों' को छोड़ बीच की राह का अनुसरण करने लगे। यह दशा देख उनके उक्त पांचों शिष्यों की श्रद्धा उन पर से हट गई और वे परस्पर कहने लगे कि इनको ईश्वर के दर्शन प्राप्त नहीं हो सकते, और वह उन्हें छोड़ काशी को चल दिये। अब गौतम निपट अकेले रह गये, पर फिर भी उनका उत्साह भंग नहीं हुआ, और वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये भरसक चेष्टा करते रहे।

निरञ्जना नदी के तट के निकट ही एक पीपल का पेड़ था। गौतम उसके तले जाकर बैठ गये और मन-ही-मन यह प्रतिज्ञा करली कि जब तक मुझको ज्ञान प्राप्त नहीं होगा, तब-तक मैं यहां से नहीं उठूंगा, चाहे मेरा शरीर सूख कर धूल ही क्यों न होजाय। वह उन जटिल समस्याओं पर जिनकी पूर्ति का उन्होंने दृढ़ संकल्प किया था, बड़े ही मनोयोग और ध्यानपूर्वक विचार करते रहे। एक दिन रात के समय उनको हठात् यह निश्चय हो गया कि वह गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये हैं, उनके उद्देश्य की पूर्ति हो गई है, जन्म-मरण सम्बन्धी सब से बड़ी समस्या हल हो गई है और मनोवांछित ज्ञान प्राप्त हो गया है।

अब उनको ज्ञान प्राप्त हो गया। वह समझ गये कि संसार रूपी यन्त्र सत्य तथा न्याय के द्वारा ही चलता है, प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है, और कर्म-फल मिले बिना नहीं रहता। उन्हें यह भी ज्ञात हुए बिना न रहा कि समस्त दुःखों का मूल वासना है और वासना की तह में अज्ञान होता है; संसार

के सभी पदार्थ अनित्य, अचिरस्थायी हैं; एक क्षण के लिये भी कोई वस्तु एक ही दशा मे नही रहती; मनुष्य को संसार मे सच्चा सुख प्राप्त नही हो सकता; जब वह बार-बार जन्म ग्रहण करने, तथा मृत्यु-मुख में प्रवेश करने से छुटकारा पा निर्वाण-पद प्राप्त कर लेता है, सच्चा सुख और सच्ची शान्ति उसको तभी प्राप्त होते हैं, यह संसार परिवर्तनशील है, नितान्त असार है।

गौतम पर यह रहस्य भी खुले बिना नही रहा कि निर्वाण-पद प्राप्ति तभी होता है, जब मनुष्य अपने अशुभकर्मों का फल भोग चुकता है और उसके मन में किसी प्रकार की कोई वासना शेष नही रहती। निर्वाण प्राप्त हो जाने पर सभी दुःख-क्लेश दूर हो जाते हैं, रोग-शोक-ताप मिट जाते हैं, कामनाएँ आप-से-आप जाती रहती हैं, अशुभ भाव मन में उत्पन्न नहीं होने पाते, और मनुष्य के हृदय में राग-द्वेष का लेश मात्र भी नही रह जाता। उन्होंने निर्वाण को "उस पार" कह कर पुकारा है। "इसपार" दुःख है, "उस पार" सुख है।

उन्होंने चार प्रधान सत्य खोज निकाले, जिनकी नीव पर उस जगत-प्रसिद्ध और ससार-व्यापी "धर्म" का विशाल भवन स्थापित किया, जो "बौद्ध मत" कहलाता है। वह "सत्य-चतुष्टय" अथवा "चार सत्य" ये हैं:—

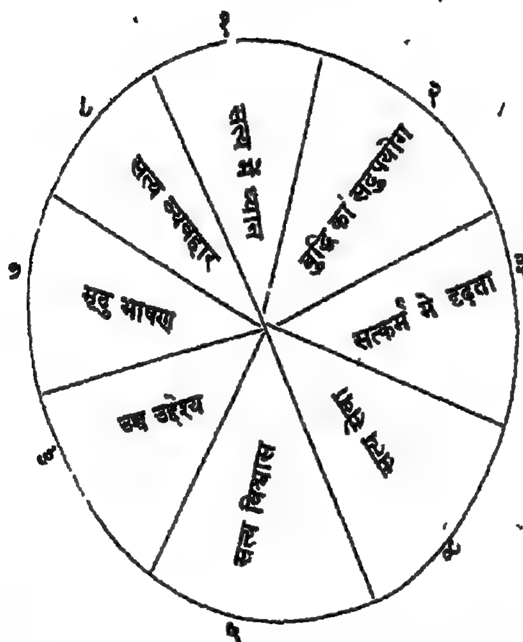
१—जब तक यह ससार है, तब तक दुःख और क्लेश भी हैं।

२—दुःख का मूल-कारण सांसारिक पदार्थों में आसक्ति है।

३—मोक्ष प्राप्ति का उपाय आत्म-सयम और इन्द्रिय निरोध है।

४—निर्वाण के इच्छुकों के लिये "अष्ट चक्र" का साधन आवश्यक है। प्रत्येक भिक्षुको इसका अभ्यास करना चाहिये:—

अष्ट चक्र



इसी अष्ट-चक्रको "अष्ट-दल-कमल" भी कहते हैं। इस रहस्य के उद्घाटन से वह 'बुद्ध' हो गये।

वह पुण्य-तीर्थ जिस जगह बुद्धदेव को ज्ञान प्राप्त हुआ "बुद्ध गया" के नाम से प्रसिद्ध हो गया। उस स्थान पर सम्राट् अशोक

ने एक विशाल और भव्य मन्दिर बनवाया था। जिस पीपल के पेड तले बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था, वह अभी तक मौजूद है। इस वृक्ष की एक शाखा अशोक के पुत्र महेन्द्र और उसकी पुत्री सघिता ने अनुरावपुर में जो उन दिनों लङ्का की राजधानी थी, लगाई थी। उनको महाराज अशोक ने वहाँ बौद्ध-मत के प्रचार के लिये भेजा था। अब वह बढ़कर बड़ा भारी वृक्ष होगया है, जिसकी लम्बी-लम्बी टहनियो को बल्लियों के सहारे की आवश्यकता आ पड़ी है। दो हजार वर्ष से इस वृक्ष की बडी ही सावधानता और यत्न पूर्वक देख-रेख होती रही है।

इस के पश्चात् कुछ दिनो तक बुद्ध देव मौन धारण किये रहे और इस बीच में उन्होंने अपने मत सम्बन्धी सभी बातो को सोच और खोज निकाला। बुद्ध देव मानव प्रकृति से भली-भांति परिचित थे, इस लिये आरम्भ में अपने इस नवीन मत का जन-साधारण में प्रचार करने मे हिचकिचाते थे कि कही लोग, जिन के धार्मिक विश्वास उनसे नितान्त भिन्न थे, उनके मत के गूढ़ तत्वों को न समझ सकें। तथापि इस विचार से कि कोई तो समझेगा ही, उनके मनकी यह हिचकिचाहट दूर हो गई। वह निकल खड़े हुए और इस प्रकार घोषणा करने लगे—"अमरत्व-प्राप्ति, तथा निर्वाण का द्वार सबके लिये खुल गया है। जो कान रखता है वह आये और सुने।"

बुद्ध देव ने सब से पहले अपने दोनों गुरुओं 'अटल' और 'उदक' से अपने नवीन मत का वृतान्त कहने का निश्चय किया,

परन्तु जब उन्हें पता लगा कि वे दोनों अब इस संसार में नहीं रहे, तब भिक्षा-पात्र हाथ में ले इन्होंने काशी को प्रस्थान किया। मृगारण्य नामक वन मे वही पांच योगी जो उन्हें उसबेल बन मे छोड़कर चले आये थे, अब फिर उनके शिष्य हो गए। इसके पश्चात् यश नामक एक गण्य-मान्य धनाढ्य व्यक्ति भी उनका शिष्य बना। कुछ दिनों तक आप उसी बनमे टिके रहे और वही उपदेश देते रहे।

उनका उपदेश पुरुष-स्त्री, धनी-कंगाल, छोटे-बड़े, सभी के लिए एक समान होता था। उनके शिष्यो की संख्या बढ़ते-बढ़ते तीन ही महीनों में साठ तक जा पहुँची। एक दिन उचित अवसर देख महाराज बुद्ध ने अपने शिष्यों को सम्बोधन करके कहा—"प्यारे भिक्षुओ! हमारा यह कर्तव्य है कि हम मनुष्य जाति तथा देवताओं को निर्वाण पद-प्राप्ति में यथेष्ट सहायता प्रदान करें। इस कारण अब हमे संसार में दसो दिशाओ में फैल जाना चाहिये। जो कुछ मैंने आप लोगो को बतलाया है, उसका उपदेश आप दूसरों को दे।"

अब बुद्ध भगवान् सेनानि गांव में पधारे जो उसबेल बन के निकट ही बसा था। यहां कश्यप तथा उनके दोनो भाई (ये तीनो के तीनों योगी थे) अपने अनेक शिष्यों सहित बुद्ध भगवान के चेले हो गये। घर से आते समय उन्हो ने राजा बिम्बसार से यह प्रतिज्ञा की थी कि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् मैं यहां आकर तुम्हें भी उपदेश दूँगा, इसलिये अब वह अपनी प्रतिज्ञा पालन करने के लिये

राज-गृह पहुँचे। राजा ने यह शुभ समाचार सुन पाया, तो मंत्रियों और अन्य पदाधिकारियों सहित भगवान् बुद्ध की अगवानी को दौड़ा।

बिम्बसार ने बौद्ध मत स्वीकार कर लिया और बोला— 'मैं बुद्ध की शरण में आता हूँ, बौद्ध धर्म की शरण में आता हूँ, बौद्ध संघ की शरण मे आता हूँ!" अब तक भी जो कोई बौद्ध धर्म में प्रवेश करता है, वह राजा बिम्बसार के कहे हुए इन्हीं शब्दो को दोहराता है। यहाँ बुद्ध देव दो महीने टिके रहे और बहुत से लोगों को अपना शिष्य बनाया, जिन मे शाली पुत्र तथा मंगल भी सम्मिलित थे। ये दोनो भिक्षु बन गए और "दहिना" तथा "बायाँ" भिक्षु के नाम से प्रसिद्ध हैं, कारण, भगवान् बुद्ध इनको अपनी दहिनी और बाईं भुजा समझते थे।

राजा शुद्धोदन ने भी समाचार पाया कि गौतम अब बुद्ध हो गए हैं और इन दिनों राजगृह में विराजमान हैं, इस लिए उसने एक मन्त्री को बहुत से अन्याय लोगो के साथ उन्हें बुला लाने के लिए भेजा। पर जब अनेक दिन बीत गए और वह मंत्री लौट कर न आया और न उसके सम्बन्ध में कोई सूचना ही मिली, तो राजा ने एक-एक कर के दस सरदार और भेजे। इन में से प्रत्येक के साथ दस-दस सहस्र आदमी थे, किन्तु सब निष्फल हुआ! इन में से कोई भी लौट कर न आया, और न किसी ने राजा को कोई सूचना या समाचार ही भेजा।

राजा की चिन्ता और आकुलता का कुछ भी पारावार न रहा। अब उसने बुद्ध के समवयस्क मित्र "कालउदयिन" को

सारा हाल मालूम करने और भगवान् बुद्ध को साथ ले आने के लिए भेजा। कालउदयिन राजगृह पहुँचा तो देखता क्या है कि जितने सरदार और अन्यान्य लोग कपिलवस्तु से आए थे, सभी बुद्ध भगवान् के शिष्य और अनुयायी हो गए हैं। कालउदयिन ने बुद्ध देव की सेवा में निवेदन किया—"आप के पूज्य पिता बहुत बूढ़े हो गए हैं। उन के जीवन का अब कुछ भरोसा नहीं है। वह चाहते हैं कि मृत्यु से पहले एक बार आप से भेंट कर लें।"

बुद्ध भगवान् अपने बहुत से शिष्यों सहित कपिलवस्तु पहुँचे और राज-प्रसाद के बाहर जो वट वृक्ष था, उस के नीचे एक पर्ण-कुटीर में डेरा लगा दिया। उनके मुख मण्डल पर दिव्य तेज दमक रहा था। उस पर दृष्टि नहीं टिकती थी। राजा और उसके भाई दोनों ने ही उनके चरण-कमलों में शीश झुका दिया। छोटे-बड़े सभी इसी प्रकार उनका आदर सम्मान कर रहे थे राजमहल की सभी महिलाएँ उनके दर्शन करने आईं, पर यशोधरा उन में नहीं थी। वह इसी विचार में मग्न बैठी थी कि यदि उनके मन में मेरे लिये प्रेम होगा, तो वह आप ही आएँगे। यह देख बुद्ध देव स्वयं उसके महल की ओर चले। उस समय उनके साथ राजा शुद्धोदन और दो शिष्य भी थे। यशोधरा बुद्ध भगवान् के चरणों में लोट गई और फफक फफक कर रोने लगी। बुद्ध देव ने उस को सान्त्वना दी और शीघ्र ही महल के बाहर हो गए।

बुद्ध का एक भाई नन्द भी भिक्षु हो गया और उनके पिता राजा शुद्धोदन ने भी इस नए मत के सामने सिर झुका दिया।

बुद्ध का चचेरा भाई आनंद भी उनका अनुयायी और श्रद्धालु भक्त बन गया। अनेक स्त्रियां भी इस मत में दीक्षित हो गईं, पर उन्हें संघ में सम्मिलित होने की अनुमति प्रदान नहीं की गई। बुद्ध भगवान् ने स्त्रियों को सम्बोधन करके कहा—"तुम सादे, सफेद वस्त्र पहरो, गेरुए वस्त्र धारण करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। अपने ही घर में रह कर मुक्ति का द्वार ढूँढो, भिक्षुओं के कठिन व्रत इत्यादि का पालन करने की चेष्टा न करो। धर्मपरायण तथा पुण्यमय जीवन व्यतीत करो। इसी से तुम्हें सची शान्ति और सुख प्राप्त होगा।" यशोधरा ने भी अपने पति प्रचारित मत को स्वीकार कर लिया और उसकी बहुमूल्य सेवा की।

जब उन्हें कपिलवस्तु में आए एक सप्ताह हो गया, तो यशोधरा ने अपने पुत्र राहुल को उनके पास भेजा। उसको भी बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाने लगी। जब राजा शुद्धोदन ने यह समाचार पाया कि पुत्र के साथ रही-सही आशा अर्थात् पौत्र भी हाथ से जा रहा है, तब उस को बड़ा शोक हुआ और उसने बुद्ध के निकट यह प्रार्थना की कि आगे कोई भी माता-पिता की इच्छा तथा अनुमति के बिना संघ में सम्मिलित न किया जाय। उन की यह प्रार्थना अस्वीकृत नहीं हुई। कपिलवस्तु में आप प्रायः दो मास तक ठहरे, और लोगों की एक भारी संख्या को बौद्ध धर्म की अनुपम शिक्षा से लाभान्वित करके संघ में सम्मिलित किया।

इस के पश्चात् आप राजगृह को लौट आए और फिर उसी कुञ्ज मे डेरा डाल दिया। ऐसे-ऐसे अनेक कुञ्ज भक्तों ने बुद्ध की सेवा मे भेंट किये थे, जिन मे "जैत वन" सब से प्रसिद्ध है। इसे अनाथपिण्डका नामक एक धर्म-परायण वैश्य ने भगवान बुद्ध को समर्पण करने के लिये भारी मूल्य देकर ख़रीदा था। बुद्ध देव का आदेश था कि जो व्यक्ति कोई वस्तु भेंट करना चाहे, वह मुझ को न देकर संघ के अर्पण करे, इस से हम दोनो की मान-प्रतिष्ठा होगी। एक बार आप की सौतेली माता प्रजापति ने एक बहुत ही सुन्दर, बहुमूल्य, मुलायम रेशमी वस्त्र आपको देना चाहा, तब आपने कहा कि यह मुझे न दें, वरन संघ के निमित्त ही अर्पण कर दे।

बुद्ध भगवान् ने 'चौमासा' अर्थात् वर्षा ऋतु के चार महीने कई बार इसी जैत वन मे बिताए थे। महात्मा बुद्ध तथा भिक्षुगण चौमासा किसी एक ही जगह ठहर कर बिताते थे, किन्तु शीत-काल के आरंभ होते ही उपदेश तथा प्रचार के लिये भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैल जाते थे। चौमासा धर्म, नीति तथा आत्मिक उन्नति सम्बन्धी कार्यों मे व्यतीत होता था। उपदेश देते और प्रचार करते चार वर्ष व्यतीत हो चुके थे, जब आपने यह समाचार पाया कि राजा शुद्धोदन मृत्यु-शय्या पर लेटे हैं। वह कपिलवस्तु जा पहुँचे। उस समय राजा की आयु ९७ वर्ष की हो चुकी थी। बुद्ध के पधारने के दो ही चार दिन पिछे वह स्वर्ग सिधारे। क्रिया-कर्म इत्यादि से निवृत्त हो बुद्ध देव फिर मगध देश मे लौट आए।

कुछ दिन पीछे प्रजापति, यशोधरा तथा अन्य बहुत सी स्त्रियां गेरुए वस्त्र धारण किये वहाँ आ पहुँची। उनके वस्त्र जीर्ण-शीर्ण थे। पैदल यात्रा के असंख्य और असह्य कष्टो ने उन को निढाल कर रक्खा था। उन्होने संघ मे प्रवेश करने की अनुमति मांगी। भगवान् बुद्ध यह नही चाहते थे कि स्त्रियां सघ मे प्रवेश करें, किन्तु आनन्द को उनकी दयनीय दशा पर बड़ी दया आई। इस कारण बुद्ध ने उनके आग्रह करने से और उसका मान रखने के लिये, अपनी नितांत अनिच्छा होते हुए भी, उन्हें सघ मे सम्मि-लित होने की अनुमति प्रदान कर दी इस प्रकार भिक्षुणियो का सघ स्थापित हुआ, और दिनो-दिन बढ़ने लगा।

इन्ही भिक्षुणिओ में सावित्री नगर की रहने वाली केश गौतमी भी थी। केश गौतमी का एकलौता पुत्र थोड़े दिन बीमार रह कर कराल काल के गाल में चला गया। तब गौतमी की अवस्था कुछ अधिक नहीं थी। पुत्र की अकाल मृत्यु का उस को बड़ा ही दुःख हुआ उसका पुत्र-स्नेह इतना अपरिसीम था, कि उसकी मृत्यु के पश्चात् भी औषधि-उपचार की खोज मे वह कई दिन तक उस की मृत-देह को गोद में लिये इधर-उधर घूमती रही। लोगो ने बहुतेरा समझाया कि अब औषधि और ईश्वर-प्रार्थना दोनो ही सर्वथा निष्फल तथा व्यर्थ हैं, पर उस का मन नहीं माना, उस को धैर्य नहीं आया। वह औषधि की खोज में उसी तरह द्वार-द्वार भटकती रही। उस की दयनीय दशा देख एक भिक्षु का कोमल हृदय पसीज उठा। उस ने गौतमी को बुद्ध भगवान की

सेवा में उपस्थित होने की सलाह दी। वह अपने पुत्र के मृत देह को लिये जैत वन में बुद्ध भगवान् की सेवा में पहुँची और उनसे अपने मृत पुत्र को पुनर्जीवित कर देने की प्रार्थना की।

बुद्ध देव बोले—"यदि तुम मुझे किसी ऐसे घर से जहाँ आज तक कोई पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध वा युवा न मरा हो, अर्थात जो घर कराल काल की पहुँच से बाहर रहा हो, वहाँ से थोड़े से दाने सरसो के ला कर दे सको, तो मैं तुम्हारे इस मृत पुत्र को जीवन प्रदान कर सकता हूँ।"

गौतमी ने भर सक यत्न किया, परन्तु एक भी घर उस को ऐसा नहीं मिला, जहां आज तक किसी की भी मृत्यु न हुई हो। इस लिये वह निरुपाय और हताश हो बुद्ध भगवान् के निकट लौट आई और बोली—"महाराज! मैं सरसो नहीं ला सकी, कारण एक भी घर ऐसा नहीं मिल सका जो नृशंस काल के धावे से आज तक सुरक्षित रहा हो।"

इस पर भगवान् बुद्ध देव ने उसको उपदेश दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह सांसारिक मोह-माया को त्याग संघ में प्रविष्ट हो गई।

उपदेश देते बुद्ध को अनेक वर्ष बीत चुके थे। अब वह बूढ़े और बहुत दुर्बल हो गये थे, तथापि गांव गांव उपदेश रूपी अमृत के स्रोत बहाते फिरते थे। सावित्री नगर से चलकर आप पुनर्वार राजगृह में आए। अब की बार यात्रा मे आपको बहुत कष्ट हुआ। यहां आकर उन्होंने गृध्रकूट पर्वत के शिखर पर डेरा जा

लगाया। राजा अजातशत्रु मीजि जाति के लोगो पर आक्रमण करने का विचार कर रहा था। उस का प्रधान मन्त्री यह जानने के लिये कि वह विजय लाभ भी कर सकेगा वा नहीं, बुद्ध देव की सेवा में उपस्थित हुआ। बुद्ध ने उत्तर दिया कि जब तक ये लोग मेरी आज्ञाओ का यथोचित पालन करते रहेंगे, तब तक संसार की प्रबल से प्रबल शक्ति भी उन्हें परस्त करने मे समर्थ नहीं हो सकती।

राजा अजातशत्रु का मंत्री चला गया, तो बुद्ध देव ने अपनी शिष्य मंडली को अपने समीप बुलाकर कहा—"एकता का महत्व और धर्मपरायण जीवन की उपयोगिता और शिष्टाचार तथा नीति-पालन की महिमा अपार है। यह वर्णनातीत है। जब तक भिक्षुओं में एका रहेगा, वे एक जगह इकट्ठे होते रहेंगे, गुरुजनों के आदेश पालन तथा संघ के नियमानुसार कार्य करने से विमुख न होंगे, और न उन नियमों मे किसी प्रकार का अनुचित परिवर्त्तन ही करेंगे, सांसारिक झगड़ों मे नहीं उलझेंगे और अपना अमूल्य समय व्यर्थ वार्त्तालाप अथवा ऐसे ही अन्य निष्प्रयोजन कार्यों मे नष्ट नहीं करेंगे, तब तक बौद्ध मत बराबर उन्नति करता रहेगा, उस समय तक वह कभी भी अवनति-पथ पर अग्रसर नहीं होगा।"

कुछ दिनों बाद आप अपने अनेक शिष्यों सहित गङ्गा के तट पर आए। मार्ग मे एक जगह राजा अजातशत्रु मीजि वंश के लोगों के हाथों निज रक्षार्थ एक सुदृढ दुर्ग बनवा रहा था। यही

स्थान आगे चल कर पाटलि पुत्र कहलाया, और मगध देश की राजधानी बना। गंगा पार करके आप वैशाली (आधुनिक बसाढ़) में पहुँचे और एक उद्यान में ठहरे, पर एकाएक बीमार पड़ गये। धीरे-धीरे दुर्बलता ने बुरी तरह से घेर लिया, किन्तु वाह रे धीरता और सहिष्णुता! मुख से हाय तक न निकली! यह समझ गये कि अन्त समय निकट आ पहुँचा है।

उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आनंद को निकट बुला कर कहा:—"आनंद! मेरी आयु अस्सी वर्ष की हो गई। शरीर धनुष की तरह झुक गया है। जैसे पुरानी बैल गाड़ी को रस्सियों से बांध कर और थोड़े दिनो तक टिकाए रख सकते हैं, उसी प्रकार मेरा यह शरीर भी विशेष प्रयत्न और सावधानता के कारण ही अभी तक ठहरा हुआ है। अब मेरा अन्त समय निकट आ पहुँचा है, पर तुम अपने मन में इस बात का कुछ भी दुःख न मानो, और सत्य को छोड़ और किसी से भी कुछ प्रयोजन न रक्खो।"

उन के आदेशानुसार आनंद ने वैशाली के आस-पास रहने वाले भिक्षुओं को बुला भेजा। जब वे लोग आ गए, तो बुद्ध देव ने मनुष्य मात्र के उपकार के लिये सब को बौद्ध धर्म का उपदेश देने की शिक्षा दी। वर्षा ऋतु के समाप्त हो जाने पर आप पम्पापुर आए और आमो के एक बगीचे में जा ठहरे। चन्द्र नामक एक कसेरे ने आप को शिष्यों सहित भोजन के लिये निमन्त्रित किया। उसने आप की बड़ी ही टहल-सेवा की, नाना प्रकार के सुस्वादु व्यञ्जन और पदार्थ तैयार करा के खिलाए। उसी दिन

सन्ध्या समय आप का चित्त बिगड़ गया, जिस का कारण सम्भवतः इस के अतिरिक्त और कुछ न था कि चन्द ने आप को खुम्भों का शाक बनवाकर खिलाया था, जिस में कोई विषैली खुम्भ भी रही होगी।

आप सन्ध्या समय कुशीनारा को चल दिये, जो थोड़ी ही दूर था। मार्ग में एक नदी पड़ती थी। उसमें स्नान किया और बहुत-सा जल पिया। फिर धूप से बचाव के लिये थोड़ी दूर पर एक आम के बगीचे में चले गए। इस प्रकार बहुत कष्ट उठाने के पश्चात् बुद्ध भगवान् कुशीनारा पहुँचे। दो-वृक्षों के बीच आपके लिये एक खटिया बिछाई गई। आप उस पर लेट गये और आनन्द को यह बताने लगे कि मेरे पीछे सङ्घ को किस ढङ्ग से कार्य करना चाहिये और भिक्षुओं को किन-किन नियमों का पालन करना उचित है, जिससे बौद्ध धर्म, जो मनुष्य मात्र के कल्याण का इच्छुक है, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त हो।

उन्होंने सब के समक्ष अपनी अन्तिम इच्छा इस प्रकार प्रकट की—"तुम आप ही अपने पथ-दर्शक बनो। तुम आप अपनी शरण गहो, किसी और को अपना गुरु वा शरण्य बनाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। सत्य नित्य, चिरस्थायी है। धर्म का कभी नाश नहीं होता। अशुभ कर्म तथा पाप द्वारा कभी भी सफलता वा विजय प्राप्त नहीं हो सकती। कपट, छल, दुर्बुद्धिता अथवा मूर्खता से मनुष्य कभी सुख वा शान्ति लाभ नहीं कर सकता। मैंने सत्य की खोज निकालने में सफलता प्राप्त की

और बुद्ध-पद पाया, तुम भी अभ्यवसाय तथा परिश्रमपूर्वक निर्वाण पद के अधिकारी बनो।"

आनन्द का ध्यान जब इस बात की ओर गया कि बुद्ध भगवान् अनन्त काल के लिये हम लोगों से विदा हो रहे हैं, तब उसका हृदय शोक के आवेग से टूक-टूक होने लगा। यह देख बुद्ध भगवान बोले—"आनन्द! रोते किस लिये हो? संसार में जन्म-मरण का क्रम सदा से चला आया है। जिनके साथ रह कर हम लोग अपना समस्त जीवन व्यतीत करते हैं, उनसे विलग होना निश्चित है। यह किसी प्रकार भी टल नहीं सकता, चाहे यह वियोग दस दिन आगे हो चाहे दस दिन पीछे। यौवन के साथ बुढ़ापा और जीवन के साथ मृत्यु लगे ही हुए हैं। धैर्य धरो, अपने मन को समझाओ। सब लोगों को सान्त्वना दो। सब के प्रति प्रेम-पूर्ण व्यवहार करो। सब पर दया करो। तुम भी शीघ्र निर्वाण पद प्राप्त करोगे।"

इसके अनन्तर उन्होंने उपस्थित जनों के सन्मुख आनन्द के शुभ गुणों को बहुत सराहा, फिर उसे कुशीनारा-निवासियों को यह सूचना देने के लिये भेजा कि मेरा अन्त समय आ पहुँचा है। यह सुना तो लोगों के हृदयों पर मानों शोक घटा घिर आई। उनके मानसिक क्लेश का वारापार न रहा। सारी रात बुद्धदेव के अन्तिम दर्शन करने के लिये आने वालों का ताँता बँधा रहा। उन्हीं दिनों सुभद्र नामक एक ब्राह्मण कुशीनारा में टिका हुआ था। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि बुद्धदेव की

सेवा में उपस्थित हो उनसे विचार-विनिमय करे। इस कारण वह भी उस साल-वृक्ष के निकट आया, जहां बुद्ध भगवान् मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए थे। आनन्द ने उसको देख पाया और ऐसे समय में उसे बुद्धदेव के समीप जाकर उन्हें कष्ट देने से रोक दिया, पर उन्होंने संकेत द्वारा उसको अपने पास बुला लिया।

उस ब्राह्मण ने हाथ जोड़ उन्हें प्रणाम किया और विनय तथा आदरपूर्वक निवेदन किया।—"महाराज! कृपापूर्वक मेरा यह अपराध और धृष्टता क्षमा कीजिये। मैंने आपको इस समय कष्ट इस कारण दिया है, जिससे मेरी अभिलाषा कहीं मन-की-मन ही में न रह जाय। मैं शङ्का-समाधान के लिये आप की सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ। हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत कितने ही मार्ग हैं, उनमें कौन-सा मार्ग सीधा और सच्चा है?"

बुद्धदेव ने उत्तर दिया—"सच्चा मार्ग परोपकार और ज्ञान का है।"

सुभद्र की आंखें खुल गईं और वह उसी क्षण बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया और बुद्धदेव ने आप उसको नियमानुसार संघ में प्रवेश कराया।

इसके बाद उन्होंने थोड़ी देर तक आनन्द के साथ बात-चीत की, फिर पूछा—"क्या यहां कोई ऐसा व्यक्ति है जो अपने धर्म सम्बन्धी किसी प्रकार की शङ्का का समाधान कराना चाहता हो?" पर जब कोई नहीं बोला, तब उन्होंने एक बार फिर वही प्रश्न दोहराया। किन्तु जब इस बार भी कोई उत्तर न मिला तो

आप चुप हो गये, और उसके पश्चात् फिर कुछ नहीं बोले। शिष्य-मण्डली और भक्त-गण सारी रात बैठे जागते रहे। रात के तीसरे पहर उसी शाल-वृक्ष के तले महान उपदेष्टा, पथ-दर्शक और संसार में ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले भगवान् बुद्ध इस अनित्य, असार संसार से विदा हो गये!

अगले दिन बड़े ही आदरपूर्वक और खूब समारोह के साथ आपका दाह-कर्म किया गया। इसके बाद फूल और भस्म उठा कर संघ के दरबार में लाए गए। सात दिन तक वहाँ लोगों की भारी भीड़ लगी रही। मगधाधीश राजा अजातशत्रु तथा वैशाली और कपिलवस्तु वालों ने भी आपके पवित्र फूल मंगा भेजे, क्योंकि उन सब का विचार बुद्ध भगवान् के स्मारक स्थापित करने का था। और भी कई एक स्थानों से दूत आये। पहले तो कुशीनारा-वासियों ने फूल अथवा भस्म देने से स्पष्ट नाहीं कर दी, परन्तु सभी जगह के लोग बुद्ध भगवान् को समान आदर और सन्मान की दृष्टि से देखते थे, इसलिये बात खिंच गई और मौखिक वादविवाद से लड़ाई-झगड़े की नौबत आया ही चाहती थी, कि इतने में एक बुद्धिमान् ब्राह्मण ने जो बौद्ध मत का अनुयायी था, सब को सम्बोधन करके यह कहा—

"बड़े ही दुःख, खेद और लज्जा का विषय है कि हम गुरुदेव की पवित्र भस्म और अस्थियों (अवशेष) के कारण परस्पर लड़ें-झगड़ें, जिन्होंने सारे संसार को शान्ति का संदेश सुनाया और प्रेम, सहनशीलता तथा क्षमा का अनुपम पाठ पढ़ाया!

क्या यह कर्म उस महान उपदेष्टा, अहिंसा की शिक्षा देने वाले बुद्ध भगवान् के शिष्यों, श्रद्धालु भक्तों तथा अनुयायियों को शोभा देता है ?"

अन्त मे यही निश्चय हुआ कि भस्म और फूलो को आठ समान भागो में विभक्त करके परस्पर बांट लिया जाय। जहां-जहाँ फूल गये, उनका स्मारक स्थापित कर दिया गया। इन में सबसे बड़ा स्मारक कपिलवस्तु में बना। इस के अतिरिक्त और भी अनेक स्थानो में बुद्ध भगवान् की यादगारें बनाई गईं, जिन्हें लोग बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते हैं।

एक बार एक मनुष्य बुद्ध भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ। वह तन-मन-प्राण से सत्य की खोज मे मग्न था। उसने प्रश्न किया—"भगवान ! इस जीवन रूपी सागर में दुःख, रोग, ताप मृत्यु इत्यादि रूपी अनेक हिंसक पशु हर समय मनुष्य को हड़प जाने को तैयार रहते हैं। क्या कोई ऐसा सुरक्षित और निरापद टापू भी है जहां मुझे आश्रय मिल सकता है ?"

बुद्ध भगवान् ने उत्तर दिया—"एक टापू है, जो काल की गति के बाहर है, जहां न दुःख है, न रोग, न शोक और न ताप ही है। वह "निर्वाण" है। सच्ची शांति, अक्षय सुख उसी जगह प्राप्त हो सकते हैं। इस पार दुःख है, उस पार सुख है।"

कुछ लोग समझते हैं कि बुद्ध भगवान् ने शान्तिमय जीवन व्यतीत किया, किन्तु यह उनका भ्रम है। जब आपने घरबार छोड़ा और सांसारिक सुखों से मुख मोड़ा, उस समय आपकी

आयु केवल २६ वर्ष की थी। ३५ वर्ष की अवस्था में आपने ज्ञान प्राप्त किया, उस के अनन्तर पूरे ४५ वर्ष निरन्तर उपदेश देने मे व्यतीत किये। आप को इतना अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम उठाना पड़ा कि जब आप की आयु अभी केवल पचास वर्ष की हुई थी तब आप बहुत दुर्बल हो गये थे।

आप परिश्रम और अध्यवसाय पर बारम्बार जोर देते तथा आलस्य और अकर्मण्यता की निन्दा करते थे। आप का जीवन इस उच्च शिक्षा का ज्वलन्त दृष्टान्त है। आप ने अपना समस्त जीवन जगत् के उपकार में व्यतीत कर दिया। सुख-चैन तो बहुत दूर की बात है, उन्हें सुविधा पूर्वक साँस तक लेने का अवकाश नहीं मिलता था। उन का सारा जीवन एक महान त्याग और अत्युज्ज्वल उत्सर्ग था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि बुद्ध देव के समान कितने सच्चे उपदेष्टा और पथ-दर्शक आज तक इस ससार में संसार के कल्याण के लिये पधारे हैं ?

भगवान् बुद्ध की शिक्षा।

बुद्ध देव की शिक्षा अत्यंत सरल, साधारण पर अनूठी और प्रभावशालिनी थी। यही कारण है कि उनके जीवन-काल मे ही उनके भक्तों और अनुयायियों की संख्या आश्चर्य जनक गति से बढ़ती जाती थी, यद्यपि बौद्ध मत के प्रचार के लिये पहले-पहले कोई विशेष साधन भी काम में नहीं लाए गये थे, और किसी प्रकार का दबाव तो लोगों पर कभी डाला ही नहीं गया। बौद्ध

धर्म के नियम ही ऐसे चित्ताकर्षक और प्रभावपूर्ण थे कि लोग आप से आप इस की ओर खिंचे चले आते थे, यहाँ तक कि भारतवर्ष से बाहर भी दूर-दूर तक बहुत शीघ्र इस धर्म का प्रचार होगया। आज भी संसार मे जितने अनुयायी इस धर्म के पाये जाते हैं, उतने और किसी भी धर्म के नही मिलते। भारत, चीन, जापान, तिब्बत, ब्रह्मा, स्याम इत्यादि अनेक देशों मे बौद्ध धर्म को मानने वाले पाये जाते हैं, और उनकी संख्या पचास करोड से भी बढ़ी हुई है। बौद्ध धर्म को यह गौरव प्राप्त है कि २५००वर्ष में एक भी आदमी को बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के लिये विवश नहीं किया गया।

भगवान बौद्ध का उपदेश किसी जाति वा पुरुष विशेष के लिये नही था। उन्होंने लोगों को उपदेश देने मे जाति-पाँति, पुरुष-स्त्री, राजा-रङ्क अथवा और किसी प्रकार के भेद-भाव को मन मे स्थान नही दिया। ब्राह्मण-शूद्र, धनी-कङ्गाल, छोटे-बडे, सब प्रकार के लोग इस धर्म में दीक्षित् थे। बुद्ध देव का मत है कि कोई एक जाति दूसरी जाति से श्रेष्ठ नहीं है; श्रेष्ठता योग्यता मे है, जाति वा जन्म मे नही। उच्च वंश में जन्म ग्रहण करने अथवा वृद्धावस्था को प्राप्त होजाने के कारण ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाया करता। ब्राह्मण वही है, जो सत्य-प्रिय है, धर्म-मार्ग पर चलता है, जो बुद्धिमान है, अपना हित-अहित समझता है और ज्ञानी है। बुद्ध भगवान् का स्वर्ग तथा नरक के अस्तित्व मे भी विश्वास था। उनकी धारणा थी कि पुण्यात्मा मनुष्य स्वर्ग मे जाकर अपने शुभ कार्यों

का उत्तम फल भोगता है, पर जब वह फल समाप्त होजाता है, तब वह फिर मर्त्य-लोक मे लौट आता है।

बुद्ध भगवान् का वचन है कि देह पर भस्म रमाने, व्रत, उपवास और भूमी पर सोने से ही किसी की आत्मा का कल्याण नही हो सकता। ऐसे कर्म मनुष्य को अपने किये हुए पापो का फल भोगने से नही बचा सकते। बौद्ध मत मे कर्म को बड़ा ही महत्व दिया जाता है। वह यह मानते हैं कि शुभ कर्म का फल शुभ तथा अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है। और लोग चाहे यह मानें कि पूजा-पाठ, व्रत, यज्ञ, उपासना अथवा देवताओं को बलि-भेंट चढ़ाने से हम अपने किये हुए पापो का दण्ड भुगतने से बच सकते हैं, पर बौद्ध धर्मावलम्बी इस बात को अस्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि जो शुभ या अशुभ कर्म कोई मनुष्य करता है, उसका फल उसको अवश्य ही भोगना पड़ेगा। किसी दशा मे भी वह कर्म-फल भोगने से बच नहीं सकता, और न उसके स्थान मे कोई दूसरा आदमी उस के किये हुए शुभाशुभ कर्म का फल भोग सकता है।

निर्वाण पद-प्राप्ति के इच्छुकों को इन दो अतियो से सदैव बचना उचित है, एक तो विषय-वासना और सुख-भोग मे रत रहना और दूसरे अति कठोर तपस्या। बुद्ध देव ने अपने प्रचारित मार्ग को "बीच का रास्ता" कहा है।

इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि बुद्ध भगवान् ने केवल मनुष्य जाति के कल्याण के लिये ही नही, वरन विश्वब्रह्मांड के प्राणिमात्र की भलाई के लिये जन्म धारण किया था। वह सभी जीवो पर

दया दिखाते थे। यही कारण है कि दया और अहिंसा (किसी जीवधारी को कष्ट न देना, ऐसा कोई कार्य न करना जिससे किसी को किसी प्रकार का कष्ट हो) ये दोनो बौद्ध धर्म की दो प्रधान और महत्व-पूर्ण विशेषताएें हैं। मनुष्य जाति के साथ ही पशु-पक्षियों और कीड़े-मकोड़ों तक के लिये भी उनके हृदय मे प्रेम और सहानुभूति का अथाह सागर ठाठें मारता था। आपने हांक-पुकार कर कहा था कि जिसके हृदय मे सब जीवों के प्रति दया भाव नही है, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नही है।

आपने सब पर दया करने की अनुपम, अत्युच्च शिक्षा दी है, बल-वान पर भी और दुर्बल पर भी, शक्तिशाली पर भी और असहाय, दीन जन पर भी। आपका आदेश है कि प्राण चाहे मनुष्य के हों अथवा पशु-पक्षी या कीड़े के, आदरणीय हैं और मारने की नहीं वरन रक्षा करने की वस्तु हैं। अनमोल और सर्वथा निर्दोष पशुओं की बलि चढ़ाकर कोई मनुष्य अपने किये पापो का फल भोगने से बच नही सकता। इस प्रकार बुद्ध भगवान ने अपने शिष्यो को सब जीवों पर दया करना सिखलाया है। पर इस से भी बढ़कर महत्व-पूर्ण पाठ जो उन्होंने पढ़ाया है, वह यह है कि अपने शत्रु को भी शुद्धअन्तः करण से क्षमा करदो, क्रोध को वशीभूत करो, अधर्म को धर्म द्वारा जीतो, दूसरो की संकीर्णचित्तता पर अपनी उदारता से विजय प्राप्त करो और असत्य को सत्य के द्वारा परास्त करो।

आपने प्रेम, क्षमाशीलता, उदारता और सहिष्णुता की अद्भुत शिक्षा प्रदान की है अपने अनुयायियो को धर्मान्धता

संकीर्णता, द्वेष, घृणा, ईर्षा, लोभ इत्यादि को अपने मन मे स्थान देने से रोका है। बौद्ध मत को उन्होने एक "तख़्ता" कहा है, जिसकी सहायता से नदी पार होते हैं और जिसे पार होकर छोड़ दिया जाता है।

बुद्ध भगवान प्रायः कहा करते थे कि मनुष्य साईस के समान है, पर सुविज्ञ, चतुर साईस वही है जो दुष्ट प्रकृति अड़ियल घोड़े को भी अपने वश में कर सके।

पुण्यात्मा, धर्मपरायण कहलाने का अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है जो शुभ कर्म करे, पापो से बचे और क्रोध को वश मे करे। यह समझना भूल है कि जो मनुष्य जितना क्रोध करता है वह उतना ही शक्तिशाली और बलवान है, बल्कि सच्ची बात तो यह है कि जो मनुष्य जितना दुर्बल होता है वह उतना ही अधिक क्रोध का शिकार होता है। क्रोध पर विजय प्राप्त करना सफलता की कुंजी है। जो कोई क्रोधानल से परास्त हो दूसरे को गालियां देता है, उसके मुकाबले पर वह मनुष्य अवश्य ही विजय लाभ करेगा जो चार बुरी बातें सुनकर भी चुप रहता है। इस कारण उचित यही है कि मित्र और शत्रु सब के प्रति नरमी का बर्त्ताव करो और सब से मीठा बोलो। भगवान बुद्ध का जीवन इन बातो का जीवित दृष्टान्त है। उन के चित्त की कोमलता, प्रेम, सहानुभूति, दयापूर्ण बर्त्ताव, क्षमा-शीलता तथा मृदु-भाषण से सहस्रों बड़े-छोटे नर और नारी, उनके आज्ञाकारी और श्रद्धालु भक्त और अनुयायी हो गये थे।

बौद्ध भिक्षुओ का संघ जिसे बुद्ध भगवान ने अपने पुनीत हाथो द्वारा स्थापित किया था, ऐसी प्राचीनतम सस्था है जो संसार-व्यापी भ्रातृ-भाव का प्रचार करती है। यह ढाई हज़ार वर्ष हुए स्थापित हुआ था और अभी तक मौजूद है। भिक्षुओं के कर्तव्यो मे लोगों को उपदेश देना, उन्हें सन्मार्ग पर चलाना, धर्म तथा संघ के नियमो का यथाविधि पालन, धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन, उन्हें नक़ल और कण्ठस्थ करना तथा नवीन भिक्षुओ को शिक्षा देना इत्यादि सम्मिलित हैं। इस सस्था मे दीक्षित होने की विधि बड़ी ही प्रभाव-पूर्ण तथा परम पुनीत है। भिक्षु के जीवन का उद्देश्य होता है कि वह अपने मन को सांसारिक पदार्थों मे आसक्त न होने दे, और उन बातो के गूढ़तत्व को जानने का प्रयत्न करे जिनसे मन को सच्ची शान्ति और सुख प्राप्त होते हैं।

भिक्षु लोग सिर पर बाल नही रखते, दिन-रात मे केवल एक ही बार, दोपहर से थोड़ी देर पहले, भोजन करते हैं। वे लोग अपना भिक्षा-पात्र लेकर घर के द्वार पर जा खड़े होते हैं, पर किसी से मांगते कुछ नहीं। थोड़ी देर चुपचाप ठहरने के पश्चात चल देते हैं। कोई कुछ दे अथवा न दे, वे किसी को बुरा-भला नही कहते। जिन देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार है, वहाँ धनी. मानी, गरीब, कङ्गाल सभी इन भिक्षुओ का यथेष्ट आदर करते हैं। भिक्षु अपने पास केवल ये आठ वस्तुएँ रखता है--भिक्षा-पात्र, उस्तरा, सुई, जल छानने का कपड़ा, पहिनने-ओढ़ने के लिए तीन वस्त्र और

एक कमरबंद। इनका जीवन बड़ा ही त्याग और सरलता पूर्ण होता है। सन्यासियों की भाँति ये लोग भी गेरुए वस्त्र धारण करते हैं, कारण, इनका उद्देश्य भी सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति नहीं वरन निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।

जो कोई संघ में दीक्षित होने की इच्छा करता है, आवश्यक संस्कार हो चुकने पर वह तीन बार यह कहता है:—

१—मैं बुद्ध की शरण मे आता हूँ।

२—मैं बौद्ध धर्म की शरण मे आता हूँ।

३—मैं सघ की शरण में आता हूँ।

इस के अनन्तर निम्न लिखित प्रतिज्ञाएँ तीन-तीन बार दोहराई जाती हैं:—

१—मैं हिंसा नही करूँगा।

२—मैं किसी प्रकार की चोरी नहीं करूँगा।

३—मैं पवित्र जीवन व्यतीत करूँगा।

४—मैं झूठ नहीं बोलूँगा।

५—मैं किसी मादक द्रव्य का सेवन नही करूँगा।

६—मैं केवल नियत समय पर ही भोजन करूँगा।

७—नाच-रग, गाने-बजाने से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं होगा।

८—मैं गद्दी पर नही सोऊँगा।

९—मैं आभूषणों का व्यवहार नहीं करूँगा।

१०—मै धन ग्रहण नही करूँगा।

उपरोक्त प्रतिज्ञाओ मे से पहली पाँच प्रतिज्ञाएँ सभी के लिए हैं, चाहे वे गृहस्थ हो अथवा संसार-त्यागी भिक्षु, और पिछली पांच केवल भिक्षुओ के लिए हैं ।

बौद्ध-धर्म का विशाल और भव्य-भवन सदाचार और नीति की सुदृढ़ नींव पर स्थित है, आत्म-संयम इसके प्राण हैं, और सच पूछो तो संसार में कोई भी काम इतना कठिन नहीं जितना आत्म-संयम स्त्री-जाति के प्रति आदर भाव, गुरुजनो की प्रतिष्ठा और सन्मान, शिष्टाचार का पालन, इत्यादि बाते बौद्ध धर्म की कुछेक विशेताएँ हैं। बौद्ध धर्म मे अत्याचार और उत्पीड़न को घृणा तथा मानुषी स्वातन्त्र्य को आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इसका उद्देश्य मनुष्य को आत्मिक, शारीरिक, धार्मिक तथा सामाजिक बेडियों से मुक्त करना है। बुद्ध के अनुयायी अपने पड़ोसियो के पॉलि-टिक्स अथवा धर्म पर कभी प्रभाव डालने की चेष्टा नही करते।

बौद्ध मत में प्राणि मात्र के साथ प्रेम करने का उपदेश दिया गया है, विशेषतः यह प्रेरणा की गई है कि शत्रुओ के प्रति द्वेषभाव नहीं रखना चाहिए, कारण, शत्रुओ से प्रेम करना प्रायः असम्भव है। हाँ, हम इतना कर सकते हैं कि इन से घृणा न करें, इनकी ओर से अपने मन मे बुरे विचारों को स्थान न दे और प्रतिहिंसा का दूषित विचार तक अपने मन मे उत्पन्न न होने दें।

"सभी बुरे कर्मों का परित्याग, जहां तक बन पड़े जीवों का उपकार करना और अन्तरात्मा को स्वच्छ और पवित्र बनाना बस यही बुद्ध का धर्म है ।"

भगवान् बुद्ध कहते हैं-"जो कोई तुम पर खड्ग, लाठी वा मुष्टि द्वारा प्रहार करे, तो बदला चुकाने का विचार तक मन मे नहीं लाना चाहिये, प्रत्युत इस प्रकार सोचना चाहिये कि मैं क्रोध वा आवेश के वशीभूत न होऊँ, कोई मन्द वचन मेरे मुख से न निकले; मेरी इच्छा है कि मैं दयावान् और कृपालु रहूँ, अपने मन में ईर्षा वा द्वेषभाव को स्थान न दूँ !"

"यदि डाकू भी किसी के अङ्गो को तेज आरे से जुदा करदे, तब भी जो मनुष्य क्रोध के वशीभूत होता है वह मेरे मत का अनुयायी नहीं है।

"प्रेम मन की मुक्ति है।"

"सभी प्राणी, चाहे वे दूर वा निकट, सन्मुख उपस्थित हों वा ओझल, सुख, शान्ति-सुविधाएं पाएं, दुःख-विषाद से रहित हों !"

"मनुष्य को उचित है कि अन्यान्य मतों के अनुयायियों का भी यथेष्ट सत्कार करे।"

"इस संसार में घृणा को घृणा द्वारा दूर नही किया जा सकता वरन् वह प्यार से दूर होती है।"

"आओ, हम सब आनन्द से जीवन व्यतीत करें; जो लोग हम से घृणा करते हैं, हम उनसे घृणा न करें, घृणा करने वालों के बीच में हम लोग घृणा-विहीन होकर रहें !"

प्रेम, दया, क्षमा, सहिष्णुता की कितनी उच्च कोटि की और कैसी अनुपम, मनोहारिणी शिक्षा है !

———:o:———

[३]

भगवान् महावीर स्वामी

प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व की बात है, कुण्डनपुर के राजा इक्ष्वाकुवंशीय महाराज सिद्धार्थ थे। वह अपनी दयाशीलता, न्यायप्रियता, धर्मपरायणता, बुद्धिमत्ता, राजनीतिज्ञता, प्रजा-रञ्जन इत्यादि अनेक शुभ गुणों के कारण दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उन के प्रभाव तथा शक्ति-सामर्थ्य का कुछ भी ठिकाना नहीं था। राज्य में चारों ओर पूर्ण शान्ति विराज रही थी, कोष भरपूर तथा प्रजा सुखी थी। महाराज सिद्धार्थ का विवाह वैशाली के सुप्रसिद्ध शासनकर्त्ता राजा चेटक की सब से बड़ी पुत्री राजकुमारी त्रिशला वा प्रियकारणी के साथ हुआ था। राजा-रानी दोनों सुख-सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत करते और सदा ही प्रजा-रञ्जन और लोक-सेवा के पुनीत कार्यों में लगे रहते थे।

कुछ दिन योंही बीते। एक दिन प्रातःकाल का सुहावना समय था। महाराज सिद्धार्थ सभा-भवन में अकेले बैठे राज्य-कार्यों के सम्बन्ध में कुछ विचार कर रहे थे कि इतने में महारानी त्रिशला को अपनी ओर आते देखा। पूछा—"प्यारी रानी ! सच कहो, इतने सवेरे कैसे आना हुआ ? कुशल तो है ?"

रानी ने उत्तर दिया—"महाराज ! पिछली रात के पिछले पहर मैंने एक बड़ा अद्भुत स्वप्न देखा है। मैंने बहुत सोचा, किन्तु उसका

तात्पर्य मेरी समझ मे नहीं आया। वह स्वप्न यह है—सबसे पहले मैंने एक बड़ा ही विशालकाय और सुन्दर, सफेद हाथी देखा, जिस के चार दांत थे। फिर एक हृष्ट-पुष्ट सांड और उसके पश्चात् एक लम्बा चौड़ा और असाधारण बलशाली सिंह मेरे सम्मुख आया। इसके अनन्तर स्वयं लक्ष्मी देवी मुझे एक कमल के फूल पर बैठी हुई दिखाई पड़ीं। फिर मुझे एक-एक करके मन्दार-पुष्पो के बने हुए अति सुन्दर, सुगन्धित हार; पूर्णिमा का चंद्रमा; सूर्य, जो अपनी जाज्वल्यमान किरणो द्वारा दसों दिशाओं को आलोकित कर रहा था; सुन्दर मछलियो का जोड़ा; पवित्र जल से पूर्ण दो सोने के कलश; साफ-स्वच्छ जल से मुंहामुंह भरा हुआ एक जलाशय, जिसमें चहुँ ओर सुन्दर कमल-पुष्प खिले हुए थे; अथाह सागर; राजसिंहासन; एक अद्भुत दिव्य रथ; नागलोक; अमूल्य और नानाविध रत्नों का एक बड़ा सा ढेर, और बिना धूएं की अग्नि-राशि दिखाई दिये। कृपा पूर्वक आप ही यह गाँठ खोलिये, और मुझे इस स्वप्न का तात्पर्य बताइये।"

महाराज सिद्धार्थ अवधिज्ञान रूपी अमूल्य धन से मालामाल थे। उन्हें असल बात समझते कुछ भी देर नहीं लगी, कहने लगे—"प्रिये! यह स्वप्न जो तुमने देखा, हमारे पक्ष में एक बड़ा ही शुभ शकुन है। बहुत शीघ्र हमें एक पुत्र-रत्न प्राप्त होगा। जो-जो वस्तुए तुमने स्वप्न में देखी हैं, वे सभी उसके शुभ और प्रशसंनीय गुणों का बोध कराती हैं। हाथी यह प्रकट करता है कि हमारा पुत्र एक सुप्रसिद्ध तीर्थङ्कर होगा और भवसागर पर पुल का काम देगा।

साँड से यह प्रकट होता है कि वह धर्म की महिमा बढाएगा। सिंह से तात्पर्य यह है कि हमारा पुत्र एक अद्वितीय शूरवीर होगा, जिस की शक्ति और बल निःसीम होंगे और वह कर्म रूपी हस्ति को परास्त करके उसका नाश कर देगा।

"लक्ष्मी देवी के स्वप्न मे दिखाई देने का अभिप्राय यह है कि अपने जीवन काल में वह कुबेर के समान समृद्धि का आगार होगा। पुष्प-हार यह प्रकट करते हैं कि उसकी शुद्ध, पवित्र देह से सुगन्धि निकलेगी, और सत्य धर्म के शिक्षक के रूप से उसकी ख्याति-सुरभि दसो दिशाओ में फैल जायगी। वह सज्जनो के हृदयों को सोलह कला-पूर्ण चन्द्रमा के समान शीतलता प्रदान करेगा और प्रकाशमान सूर्य से अभिप्राय यह है कि वह अज्ञानांधकार को छिन्न-भिन्न कर देगा। मछलियों का जोड़ा यह प्रकट करता है कि वह स्वयं अनंत सुख भोगेगा तथा दूसरो को भी सच्चे सुख की प्राप्ति का मार्ग दिखा सकेगा। उस जलाशय के समान जिस में चन्द्रोज्ज्वल कमल पुष्प खिले हुए हों, हमारे पुत्र की देह में सभी शुभ लक्षण विद्यमान होंगे। टिके हुए अथाह सागर से तात्पर्य यह है कि उसको सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त होगा। सिंहासन यह प्रकट करता है कि वह धर्म रूपी एक सुविशाल राज्य की नींव डालेगा। दिव्य रथ हमें यह बोध कराता है कि वह इस समय हमारी ओर चला आरहा है। नाग लोक का स्वप्न में दिखाई पड़ना यह प्रकट करता है कि वह निर्वाण पद को प्राप्त करेगा। रत्न-राशि उसके अगणित शुभ गुणों को प्रकट करती

है। प्रकाशमान् अग्नि से अभिप्राय यह है कि वह कर्म-रूपी कूड़े-कचरे को भस्म किये बिना न रहेगा।"

भगवान् की लीला! उसी दिन से कुण्डिनपुर राज्य दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करने लगा। महारानी त्रिशला रात-दिन धर्म-चर्चा और पुण्य-कार्यों में व्यस्त रहती। निदान वह शुभ दिन आ पहुंचा, जब भगवान् महावीर स्वामी इस संसार में पधारे। चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी थी। सोमवार का दिन था और था ऊषा काल। जब आपका जन्म हुआ, उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानों पूर्व दिशा में बाल-सूर्य उगा हो। उक्त घटना ईसा मसीह से ५९९ वर्ष पहले की है। शिशु का रंग ऐसा था, जैसा तपा हुआ सोना। उसके सभी अङ्ग सुगठित और सुडौल थे, हड्डियाँ ऐसी सुदृढ़ थीं मानो वज्र हों। समूचा शरीर दिव्य कान्तिमय था। इनके जन्म तथा इनकी विशेषताओं के संबन्ध में ऐसा प्रसिद्ध है कि "जन्म होने के बाद देवराज इन्द्र राजकुमार को ऐरावत हाथी पर चढ़ा सुमेरु पर्वत पर ले गया, वहाँ पाण्डुक नामक स्वर्गीय उपवन में पाण्डुकशिला पर बिठा कर राजकुमार को क्षीर-सागर के पवित्र जल से स्नान कराया। देवताओं ने दिव्य वस्त्र, आभूषण तथा पुष्प-मालाएं उसको पहिराईं और उसकी प्रशंसा के गीत गाए। यह संस्कार भगवान् महावीर के जन्मकल्याणक के नाम से प्रसिद्ध है। यह दूसरा कल्याणक था। पहला (गर्भ कल्याणक) तब हुआ था, जब भगवान् महावीर की पवित्र आत्मा ने गत आसाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को महारानी त्रिशला के

गर्भ में प्रवेश किया था। इन्द्र जब उसको ले कर चला, तो उसकी जगह एक और शिशु को वहाँ लिटा गया, जिस से राजा-रानी अपने जीवन-सुख, पुत्र के इस प्रकार खोए जाने से व्याकुल और शोक-विह्वल न हो उठें। कल्याणक हो चुकने पर जब राजकुमार को लाकर उसकी माता के पास लिटाया, तब उस शिशु को उठा लिया। इन्द्र ने देखा कि सिद्धार्थ-नदन कर्म का नाश किये बिना न रहेगा, और उसके शुभ गुण ऐसे नहीं होंगे, जिन की सहज ही में गणना की जा सके, इस कारण उसने राजकुमार के दो नाम रक्खे, वीर तथा वर्द्धमान्।"

"जहाँ राजा-रानी के आनन्द का वारापार न था, वहाँ प्रजा के हर्ष का भी कुछ ठिकाना नहीं था। एक दिन दो सन्यासी जिनके नाम संजय और विजय थे, राजकुमार के दर्शनो को आए। ज्यों-ही उनकी दृष्टि राजकुमार के तेजोमय मुख-मण्डल पर पड़ी, उनकी सभी शङ्काओं का समाधान हो गया, सारा अज्ञानांधकर दूर हो गया, मनका मैल जैसे सारा धुल गया! उन्होंने उनका नाम सन्मति रक्खा और लौट गये! राजकुमार वर्द्धमान् जैसा देखने-भालने में सुन्दर और रूपवान था, वैसा ही बलवान् और शक्तिशाली भी था। उसका अनुपम शौर्य और अतुलनीय साहस देख सभी आश्चर्य-चकित रह जाते थे। उसके साथियो में कोई भी रूप-गुण, बल-पराक्रम में उसकी समानता नहीं कर सकता था, और साधारणतः यह समझा जाता था, कि समस्त भूमण्डल में एक भी मनुष्य उसके जोड़ का नहीं है।"

"एक दिन राजा इन्द्र अपनी सभा में बैठा इन्हीं बातों की चर्चा कर रहा था। देवताओं ने इन्द्र की बातें सुनीं, तो उनके आश्चर्य का कुछ भी ठिकाना नहीं रह गया। सङ्गम नामक एक देवता को किसी प्रकार भी इस बात पर विश्वास नहीं हुआ कि राजा सिद्धार्थ का दुधमुहां पुत्र ऐसे-ऐसे और इतने सारे शुभ गुणों से विभूषित है। परिणाम यह हुआ कि उसने मन-ही-मन राजकुमार की परीक्षा करने का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया। एक दिन राजकुमार वर्द्धमान् और उसके साथी वृक्षों पर चढ़-चढ़ कर खेल कूद रहे थे। उसी समय सङ्गम एक भयङ्कर काले नाग का रूप धारण कर उस वृक्ष से आ लिपटा, जिसकी एक टहनी पर राजकुमार वर्द्धमान् बैठा था। शेष सभी बालक भयभीत हो भाग खड़े हुए, किन्तु राजकुमार तनिक भी नहीं घबराया। उसके फैलाए हुए फण पर पाँव धर निश्चिन्तता पूर्वक नीचे उतर आया और उस साक्षात् काल रूप नाग को अपने दोनों हाथों में उठाकर आनन्द पूर्वक हिलाने-डुलाने और उसके साथ खेलने लगा। सङ्गम के मन में जो-जो शङ्काएं थीं, वे सब उसी क्षण दूर हो गईं। उसने झट अपना वास्तविक रूप धारण कर लिया, और एक सोने के घड़े में पवित्र जल लेकर राजकुमार को स्नान कराया और उसका नाम महावीर रख अपनी राह ली।"

उन दिनों यह प्रथा प्रचलित थी कि बालक की आयु जब पाँच वर्ष की होती तब, पढ़ना-लिखना सीखने के लिये उसे गुरु को सौंप दिया जाता था। किन्तु राजकुमार वर्द्धमान् के लिये यह सब

नितान्त अनावश्यक था, क्योंकि पूर्व जन्म के संस्कारो के प्रभाव से मति-ज्ञान, श्रुति-ज्ञान तथा अवधिज्ञान पर उन्हे पूर्ण अधिकार प्राप्त था। उनके सीखने के लिये कोई ऐसी बात शेष नहीं थी, जो शिक्षक उन्हें सिखा सकता। अब आप आठ वर्ष के हो गये थे। तभी से आपके मन में ये विचार उत्पन्न होने लगे कि अनंत सुख का द्वार एक मात्र त्याग के ही द्वारा खुल सकता है; यह ससार असार है और सभी सांसारिक आनन्द तथा सुख निःसार और क्षणभङ्गुर हैं, उनका अन्तिम परिणाम घोर दुःख को छोड़ और कुछ नही है; ससार में आसक्ति का अर्थ है कर्म-बन्धन को और अधिक सुदृढ़ बनाना। फल यह हुआ कि आप ने इस अल्पावस्था में ही बारह अनुव्रतो (अहिंसा इत्यादिक) का पालन करना आरंभ कर दिया, और इस के अतिरिक्त वे सब कर्तव्य भी अपने सिर ले लिये जिनका पालन करना गृहस्थ लोगों के लिये आवश्यक तथा अनिवार्य माना जाता है। कर्मों की बेड़ियां आपसे नित्य प्रति आप-ही-आप दूर ही दूर होने लगीं।

तथापि जब तक आप गृहस्थाश्रम में रहे, गृहस्थोचित सभी कर्तव्यो का यथोचित पालन करते रहे, अपने किसी भी कर्तव्य से कभी विमुख नहीं हुए। वह कमल-पुष्प के समान जल के भीतर रहते, पर फिर भी जल उन्हें स्पर्श नहीं कर पाता था। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी वह सांसारिक वासनाओ से अलग थे। फिर भी जो बात आप को सब से अधिक पसन्द थी, वह तप और ध्यान था। वह सदा ही ऐसी राहें सोचते रहते थे, जिन के

अनुसरण द्वारा कर्मों की बेड़ियों से छुटकारा मिल सके, मनुष्य बन्धन-मुक्त हो सके। आप अपने माता-पिता तथा अन्यान्य गुरु-जनों की आज्ञा पर चलते और उन की सेवा से कभी विमुख नहीं होते थे। उन्हें प्रसन्न करने मे आप सदा ही प्रयत्नशील रहते थे। राजनीतिज्ञता भी आप में कूट-कूट कर भरी थी। आप ने विवाह नही किया और आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। जब तक भगवान् महावीर गृहस्थधर्मावलम्बी रहे, गान विद्या के अभ्यास तथा साहित्य के अवगाहन में लगे रहे। घोड़े की सवारी, तलवार, बन्दूक और भाला चलाना, धनुर्विद्या तथा राज्य सम्बन्धी कार्य करने मे भी आप पूर्ण पटु थे। आप अपने समय के बड़े भारी विद्वान् थे और संस्कृत और प्राकृत इन दोनों भाषाओं के पण्डित थे। परन्तु वह संसार में साधारण सांसारिक लोगो का सा जीवन व्यतीत करने के लिये नही, वरन एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण कार्य करने के लिए पधारे थे।

एक दिन ध्यानावस्थित हो राजकुमार वर्द्धमान् ने अपने अवधि-ज्ञान के द्वारा अपने पिछले जन्म-जन्मान्तरों का चित्र अपने मन की आंखों के सामने खींचा। उन्होंने देखा कि अनन्त काल से उनके अनेक जन्म-जन्मान्तर हो चुके हैं, और वह अगणित अवस्थाओं और अनेक हर्ष-शोक, सुख-दुःख की दशाओं में से हो कर निकल चुके हैं। वह सोचने लगे:—"हा खेद! कितने जन्म

श्वेताम्बर जैनियों के मतानुसार भगवान् महावीर स्वामी ने विवाह किया था, और उनके घर में एक कन्या का भी जन्म हुआ था। ले०

अकारथ बीत गए हैं ! मुझे मति-ज्ञान, श्रुति-ज्ञान तथा अवधि ज्ञान पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है, और उनके द्वारा मुझे स्पष्ट ही देख पड़ता है कि कर्म आत्मा से निश्चय ही अलग वस्तु है, फिर भी मैं ने अपने इस अमूल्य जीवन के तीस वर्ष वृथा ही नष्ट कर डाले हैं। मैंने अभी तक कोई तप नहीं किया और न कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए सांसारिक जीवन का परित्याग ही किया है। जो पाप अज्ञानवश हो जाय, वह ज्ञान द्वारा दूर हो सकता है, किन्तु जान बूझ कर जिस पाप कर्म का आचरण किया जाय, उस को दूर करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव है। मोह, जिस को सभी बुराइयों की जड़-मूल जानना चाहिए, अभी तक मेरे मन से दूर नहीं हुआ।"

भगवान् महावीर घोर पश्चात्ताप अनल मे जल उठे। वह मन-ही-मन सोचने लगे—"संसार और सांसारिक पदार्थ अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं; इनमे से एक भी नित्य, चिरस्थायी नहीं है। एक मात्र आत्मा ही अन्तिम और सच्चा आश्रय है। आत्मा को छोड़ अन्य कोई भी वस्तु आत्मा को सहायता प्रदान नहीं कर सकती। शरीर इत्यादि आत्मा से भिन्न हैं। आत्मा पवित्र, और निर्मल है और देह अपवित्र और मलीन है। आत्मा के बंधन का कारण कर्मों का बहाव है। मोक्ष-पद प्राप्त करना तभी संभव है, जब कर्मों से बिल्कुल छुटकारा पा लिया जाय यह जगत् अनादि है, इत्यादि।"

महावीर स्वामी ने इन बारह अनुप्रेक्षाओं पर बड़े ही ध्यान तथा पूर्ण मनोयोग पूर्वक विचार किया। उन्होंने अपने मन से

माता-पिता तथा बन्धुजनों और मित्रों की मोह-माया दूर कर घर-बार परित्याग कर देने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

महिषी त्रिशला ने यह सुना, तो उन्हें समझाने लगी—"प्राणाधिक पुत्र! तुमसे तपस्या की कठिनाइयाँ उठाई न जायँगी। इस कार्य के लिये अभी बहुत समय पड़ा है, जल्दी क्या है? इस समय तुम्हारे लिये उचित यही है कि राज्य-कार्य का भार उठाने में अपने पूज्य पिता की यथेष्ट सहायता करो, फिर कुछ काल के अनन्तर, यदि तुमको उचित जान पड़े तब, गृहस्थ आश्रम का परित्याग कर देना।"

किन्तु महाराज महावीर के मन में ससार तथा सांसारिक पदार्थों के लिये तिल-मात्र भी लगाव शेष नहीं रह गया था। आसक्ति सारी दूर हो चुकी थी। आपने कहा—"माता जी! यह संसार मानों एक जादू का खेल है। सभी सांसारिक पदार्थ जल के बुलबुलों के समान क्षणभङ्गुर हैं, अनित्य और नाशवान हैं। ऐसे जगत् में किसी को सच्चा सुख क्योंकर प्राप्त हो सकता है जो सदा ही मृत्यु, असंख्य भयानक रोगों, दुःख, शोक और कष्टों से आक्रान्त हो? ससार और गृहस्थ आश्रम का परित्याग किये बिना मुझको सुख प्राप्त नहीं हो सकता।"

भगवान् महावीर मन में एक बार जो दृढ़ सङ्कल्प कर चुके थे, स्नेहमयी माता की प्रेम-सनी आपत्तियाँ उसके मार्ग में कोई विघ्न-बाधा उपस्थित करने में असमर्थ रहीं। महाराज सिद्धार्थ तो पहले ही इस बात से भली-भाँति परिचित थे कि उनका पुत्र कोई साधा-

रण मनुष्य नहीं है, इस कारण उनकी ओर से कोई रुकावट नहीं डाली गई। इस शुभ अवसर पर देवराज इन्द्र ने तीसरा कल्याणक किया। राजकुमार वर्द्धमान् ने अपनी सारी धन-सम्पत्ति दीनो, अनाथो को बांट दी, और आप फिर कभी लौट कर न आने के के लिये अनन्तपथ पर अग्रसर हो गये! भगवान् महावीर का गृहस्थ-जीवन समाप्त हो गया! पुत्र-वियोग का यह करुण दृश्य देख ममता की मारी माता का हृदय टूक-टूक होगया।

महाराणी की यह दशा देख किसी ने उसको समझाया:—

"महाराणी जी! आप यह क्या करती हैं? यह शोक-दुःख आपको शोभा नही देता। जिस व्यक्ति को आप अपना पुत्र मानती हैं, वह तो तीनों लोकों का उपदेष्टा और पथ-दर्शक है। किसमें इतनी सामर्थ्य है, जो उससे टक्कर ले सके? संसार में कोई भी उसके जोड़ का नही है। इस समय वह भवसागर को पार करने, आवागमन के बंधन से छुटकारा पाने, बारम्बार जन्म ग्रहण करने और कराल काल के मुख मे पड़ने से बचने का उपाय ढूंढ निकालने के लिये बाहर निकला है। इसके अनन्तर वह असख्य आत्माओं को दुःख से छुटकारा पाने और अनत सुख प्राप्त करने का मार्ग दिखाएगा। क्या ऐसा महान् आत्मा भी कोई साधारण मनुष्य हो सकता है जिसे सदा के लिये सांसारिक चार-दिवारी के भीतर बद करके रक्खा जा सके?"

महारानी त्रिशला को तुरन्त अपनी भूल मालूम हो गई, और सांसारिक जीवन की वास्तविक दुःखमय और दयनीय दशा का

भी उनको परिचय मिले बिना नहीं रहा। वह आँसू पोंछती हुई उसी समय राजप्रासाद को लौट गई। इधर भगवान महावीर वन में पहुँचे अपने वस्त्र और आभूषण उतार डाले और बिलकुल नग्न हो गये। उन्होंने अपने ही हाथों अपने सिर के केश उखाड़ डाले और एक अशोक वृक्ष के नीचे जा बैठे। आपके मनोगुप्त, नग्न शरीर से ऐसी दिव्य ज्योति की किरणें निकल रही थीं कि आँख उठा कर उनकी ओर देखा तक नहीं जाता था। अब आपने कमर कस कठोरतम तपस्या आरंभ कर दी। व्रतों का पालन करना, अनेक असह्य कष्ट झेलना, कठोर से कठोर तप करना, आत्मा सम्बन्धी विषयों पर ध्यानपूर्वक विचार करना, दूर दूर स्थानों की पैदल यात्रा करना, अब यह आपका नित्य का नियम सा हो गया था। एक बार आप पूरे छः मास तक ध्यान मग्न रहे। इस बीच में आपने कुछ नहीं खाया। इसके अनन्तर आप कुलपुर गये। वहाँ के राजा ने अत्यंत आदर तथा श्रद्धा पूर्वक आपका स्वागत किया और आपको शुद्ध, पवित्र और सात्विक भोजन कराया। कुलपुर से आप दासपुर गये। कुलपुर नरेश वहाँ भी साथ ही पहुँचा और बड़ी श्रद्धा के साथ महावीर स्वामी को एक बार फिर भोजन कराया। भगवान वहाँ से एक बार फिर उसी वन में लौट आए। यद्यपि आप वनों, नगरों और गाँवों में भ्रमण करते रहते थे, किन्तु कभी एक क्षण के लिये भी आप ध्यान से विमुख नहीं हुए और यथापूर्व तप में दत्तचित्त रहे। आपकी सहनशीलता की कहाँ तक प्रशंसा की जाय! जाड़ा, गर्मी, वर्षा, धूप, भूख और प्यास के

असह्यकष्ट प्रसन्नतापूर्वक झेलते रहे। एक बार ग्वालिनों ने उनके कानो मे बड़े बड़े खूँटे गाड़ दिये, तथापि आप ने उन्हें कुछ नही कहा, और चुपचाप सारा कष्ट सह लिया।

इस प्रकार एक जगह से दूसरी जगह और दूसरी जगह से तीसरी जगह, प्रकट रूप से, बिना किसी भी उद्देश्य के, घूमते-फिरते एक दिन आप उज्जयिनी नगरी की श्मशान भूमि में आ निकले और उसी जगह बैठ ध्यान में मग्न हो गए। रात्रि का समय था, चहुँओर घोर अन्धकार फैला हुआ था। ऐसा सन्नाटा था कि सुई गिरने का शब्द भी स्पष्ट सुन पड़ता था। सुनसान और भया-वह स्थान था पर महावीर स्वामी का इन बातो की ओर ध्यान तक न था। उस समय आपको अनेक कठिन परीक्षाओं का सामना हुआ, किन्तु आप उनमें से एक में भी अनुत्तीर्ण नहीं हुए। उन सब मे आपने अपूर्व सफलता प्राप्त की। उज्जैन से चल कर आप कौशाम्बी नगर में पहुँचे। वहां आपने चन्दना का आतिथ्य स्वीकार किया। चन्दना धर्म-प्राण और सुशीला स्त्री थी। भगवान् महावीर के अमूल्य उपदेश और सत्संग ने सोने पर सोहागे का काम कर दिखागा और इस के अद्भुत प्रभाव से चन्दना का आचरण और भी पवित्र हो गया। उसने आजीवन विवाह नहीं किया। वह अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में भिक्षुणी और छत्तीस हजार धर्मपरायणा महिलाओ की पथदर्शक और अग्रणी बन गई थी। ये स्त्रियां भगवान् महावीर मे अनन्त श्रद्धा और भक्ति रखने के कारण भिक्षुणियां बन गई थीं।

गृहस्थ-आश्रम छोड़ने के पश्चात् भगवान् महावीर के जीवन के बारह वर्ष कठोर तपस्या और साधना मे बीते।

वैशाख (ईसा मसीह से ५५७ वर्ष पहिले) मास के शुक्ल पक्ष का दसवां दिन, और संध्या का समय था। आकाश निर्मल, वायु स्वच्छ और टिकी हुई और समय बहुत ही सुहावना था। भगवान् महावीर जृम्भक गांव में ऋजुकुल नदी के तट पर एक शाल के वृक्ष तले ध्यान में मग्न बैठे थे। उसी समय आप को कैवल्य ज्ञान प्राप्त हो गया। तब देवताओ ने चौथा कल्याणक किया। अब आप तीर्थङ्कर हो गए। आप का समवसरण सब के लिए खुला था। मगध नरेश श्रेणिक के समान प्रतापी राजाधिराज भगवान् के चरणो में बैठ कर आप का उपदेश रूपी अमृत पान करते थे। पण्डित इन्द्रभूति ने जिसे अपनी असाधारण विद्वत्ता और प्रगाढ़ पाण्डित्य का अत्यधिक घमण्ड था, ज्योंही आप के दर्शन किए, हार मान ली और अपने भाइयो तथा शिष्यो सहित भगवान् का चेला बन गया। इन्द्रभूति को उस दिन कैवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ जिस दिन भगवान् ने निर्वाण पद प्राप्त किया था। इन्द्रभूति के अतिरिक्त अग्निभूति, वायुभूति, शुचिदत्त, सुधर्म, माण्डव्य, मौर्यपुत्र, अकम्पन, अचल, मेदार्य और प्रभात ये और दस गणधार भी भगवान के शिष्य थे। अट्ठाईस सहस्र भिक्षु, छत्तीस सहस्र भिक्षुणियां, एक लाख गृहस्थ पुरुष और तीन लाख गृहस्थ स्त्रियां समवसरण मे बैठ कर भगवान् का उपदेशामृत पान करते थे।

कैवल्य ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर तीस वर्ष तक भगवान् महावीर समस्त ससार को शान्ति का उपदेश देते रहे । आप के अनुयायी तथा श्रद्धालु भक्त सब जगह आप के साथ ही जाते थे। जिन लोगों का मन संसार से ऊब जाता अथवा जो लोग दुःखी होते, वे आप के पवित्र चरणों में आकर पूर्ण शान्ति प्राप्त कर लेते थे। उद्देश्य-भ्रष्ट, भूले-भटके लोगों के हृदयों में से अज्ञानांधकार दूर करने, उन्हें सन्मार्ग पर लाने और उन्हें सत्य का उज्ज्वल प्रकाश दिखाने के लिए भगवान महावीर ने मगध, मिथिला श्रावस्ती, हिमालय तथा अन्यान्य अनेक देशो में चक्कर लगाया। आपकी निर्वाण पद प्राप्ति से पहले लाखों आदमी, जिनमें अनेक राजे-महाराजे, भी थे, जैन धर्म में दीक्षित हो चुके थे। श्रेणिक, चेटक, धारिशेन, जीवनधर, अभयकुमार इत्यादि अनेक राजे आपके शिष्य हो गए थे और आपके दिखाये हुए मार्ग पर चलते तथा आप की प्रदान की हुई शिक्षा के अनुसार कार्य करते थे। जैन धर्म के प्रचार ने भारतवर्ष में एक नया जीवन डाल दिया था, चहुँ ओर नवीन स्फूर्त्ति दृष्टिगोचर होती थी।

निर्वाण पद प्राप्ति के एक मास पूव आप पापापुरी में पधारे कार्त्तिक मास की अमावस्या का दिन और संध्या का समय था। जब भगवान् महावीर ने निर्वाण पद प्राप्त किया। जैन भाइयों के मतानुसार हिन्दुओं का राष्ट्रीय त्यौहार दीपमाला इसी घटना की यादगार है और उसी दिन से चला है। भगवान् महावीर की स्व-तन्त्र आत्मा शरीर के बन्धन से मुक्त हो सिद्धशिला पर जा

पहुँची। ऐसा कहा गया है कि "आपकी पञ्च-भौतिक नश्वर देह के केवल नख और केश ही भूतल पर शेष रहे। देवराज इन्द्र भगवान का निर्वाण-कल्याणक मनाने के लिये पापापुरी में आया। देवताओं ने आप के पवित्र नख और केश एक सोने के जड़ाऊ सन्दूक में रखकर उसको क्षीर सागर की तह मे डाल दिया। उपरोक्त घटना ईसा मसीह से पांस सौ बीस वर्ष पहले की है। वास्तव मे महावीर स्वामी एक असाधारण मनुष्य थे।"

भगवान महावीर स्वामी

तथा जैन धर्म की शिक्षा।

भगवान् महावीर जैन धर्म के चौवीसवें तीर्थङ्कर थे। तेईसवे तीर्थङ्कर महाराज पार्श्वनाथ जी का जन्म शालिवाहन सम्वत् के नौ सौ वर्ष पूर्व हुआ बताया जाता है। उन के प्रायः अढाई सौ वर्ष पीछे भगवान् महावीर इस संसार मे पधारे। आपने जैन धर्म की नींव नही डाली१!

उक्त धर्म चिरकाल पहिले से प्रचलित था। आपने केवल उसको पुनर्जीवित् किया और दूसरी बार उसकी ज्योति की छटा चारों ओर फैलाई थी। आप जैन मतावलम्बियो के आचार्य और गुरू थे और पवित्रता की मानों सजीव मूर्त्ति थे। हम उनके नाम, उनके कार्य, उनके अद्भुत् अहिंसा भाव तथा तप पर जितना भी गौरव करे थोड़ा है। उनका हृदय अत्यंत विशाल था, वह एक

१—जैन धर्म की नींव ऋषभदेव जी ने डाली थी।

अथाह सागर था जिस में मनुष्य-जाति के प्रेम की लहरे सदा ही उठती रहती थी, और एक मात्र मनुष्य ही क्यो, उन्होने जगत के प्राणि मात्र के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग किया, पशुओ का लहु बहाने से रोकने के लिए अपने जीवन का खून कर डाला। उनमें वैराग्य था, उनके जीवन में धर्म का उच्चतम आदर्श विद्यमान था। यह मानवी दुर्बलताओं से बहुत ही ऊंचे थे। इनको "जिन" कहते हैं, जिन्होने मोह-माया को और मन-काया को जीत लिया था यह वह तीर्थङ्कर थे। इनमे बनावट नही थी, दिखावट नही थी; जो बात थी, सत्य और स्पष्ट थी। इनको शारीरिक दुर्बलताओं तथा दूषणों को छिपाने के लिये किसी बाह्य वेश-भूषा तथा परिधान की आवश्यकता नहीं पड़ी, कारण, इन्होंने कठोरतम तपस्या तथा, योग साधन द्वारा अपने आपको सर्वथा सर्वाङ्गपूर्ण बना लिया था।

अहिंसा (किसी को किसी प्रकार का कष्ट न देना) के नियम की यदि किसी ने अधिक से अधिक स्पष्ट विवेचना की है, तो वह भगवान् महावीर स्वामी ही थे। आपका सबसे बड़ा उपदेश और सबसे बढ़िया शिक्षा अपने मतानुयायियों के मन को अहिंसा की ओर झुकाना था। किसी के मन को चोट पहुँचाना भी हिंसा है, इस लिए जैन मतावलम्बियो को ऐसा करने का निषेध किया गया है।

आप का वचन है कि मोक्ष, मुक्ति वा निर्वाण पद की प्राप्ति साम्प्रदायिक बाह्याडाम्बर अथवा कर्म-काण्ड, यज्ञ-याग द्वारा नहीं

हो सकती, वरन् उस सच्चे धर्म के स्वरूप में आश्रय ग्रहण करने से होती। आपका यह भी कहना है कि धार्मिक दृष्टि से मनुष्य-मनुष्य मे भेद भाव नहीं हो सकता। आपकी इस अनुपम शिक्षा ने जाति-पाँति के भेदभाव को बहुत शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और सारे देश पर अपना अधिकार जमा लिया।

आप सब को यही शिक्षा देते थे कि चाहे किसी का जन्म उच्च जाति मे हुआ हो अथवा नीच जाति मे, वह मोक्ष पद के पाने का अधिकारी है। जो कोई पवित्र जीवन व्यतीत करता है, और दीन, दुःखी, अनाथ और असहाय लोगो पर दया दिखाता और उनको सहायता प्रदान करता है, उसको यज्ञ-याग द्वारा देवताओ को सन्तुष्ट करने की अपेक्षा इस कार्य से अधिक लाभ पहुंचने की सम्भावना है, अन्यथा अनबोल पशुओ की हत्या का फल, घोर दुःख तथा कष्ट के सिवा और कुछ भी न होगा।

आपका मत है कि मनुष्य की वर्त्तमान अवस्था उसके निजकृत कर्मों का फल है, ये कर्म चाहे इस जन्म मे किये गये हो अथवा किसी पूर्व जन्म मे। जीवन का एक बड़ा भाग दुःख मे बीतता है, चाहे कोई अपने आप को कितने ही सुख और सुविधा मे क्यो न माने। इस लिये मनुष्य का कर्त्तव्य है कि ऐसे कर्म करे, जिनके द्वारा वारम्बार जन्म लेने और मरने से छुटकारा मिल जाय। यह अत्यत शुभ फल अनबोल और सर्वथा निरपराध पशुओं की गर्दनो पर छुरी फेरने अथवा अत्यंत निष्ठुरता पूर्वक उन्हें अग्नि-कुण्ड में झोंक देने से कभी प्राप्त नहीं हो सकता,, हाँ, इन्द्रिय-दमन, मन

को वश मे करने तथा पवित्र आचरण द्वारा ऐसा अवश्य हो सकता है ।

लोगों को कर्म-काण्ड के बाह्याडम्बरो का पालन करते देख आप समझते थे कि यह धर्म नही, वरन धर्म के नाम पर फैला हुआ अज्ञान है । आपका कहना है कि सत्य-पथ की खोज करने वाले को अपना जीवन अत्यन्त उच्च बनाना चाहिये । उन्होंने अपनी अनुपम शिक्षा तथा अमूल्य उपदेश द्वारा अपने शिष्यों को इतना समभाव बना दिया था कि मृत्यु की यन्त्रणा का सामना होने पर भी धर्म-पथ-भ्रष्ट होना उन्हे कभी भाव नहीं होता था । आपने कहा है कि "तप की महिमा वर्णन नही की जा सकती । ससार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो तप के द्वारा प्राप्त न की जा सके ।" राजा और भिखारी, ब्राह्मण और शूद्र, आर्य और अनार्य, धनी और दरिद्र, सभी लोग आपके उपदेश को अत्यन्त श्रद्धा, चाव, ध्यान तथा प्रेमपूर्वक सुनते थे, और वह ऐसा प्रभावोत्पादक होता था कि जो सुनता, आपका श्रद्धालु भक्त और अनुयायी बन जाता था ।

जैन धर्म एक प्राचीन और विशाल धर्म है । यह दो बड़े-बड़े हिस्सों में बँटा हुआ है, १.दिगम्बर २. श्वेताम्बर । जैन धर्म ईश्वर को मानता है, परन्तु वह उसको जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं मानता । जैन धर्म में मूर्ति-पूजा नहीं होती, मंदिरों की मूर्तियां केवल स्मारक और आदर के चिह्न हैं । जैन धर्म का उद्देश्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करके कर्मों का नाश करना है । यह किसी से द्वेष

अथवा द्रोह करना नहीं सिखाता वह किसी बात को तब मानता है, जब वह अनुभव की कसौटी पर भली-भांति कसी जा चुकी हो। जैन धर्म का आदर्श सांसारिक सुख अथवा धनसम्पत्ति लाभ नहीं है, वरन आत्मा को परमात्मा बनाना है।

जैनधर्मावलम्बी गृहस्थ पुरुष स्त्रियों के लिए निम्न लिखित दस आदेश हैं:—

(१) क्षमा; (२) विनयशीलता; (३) सत्य; (४) सन्तोष; (५) इन्द्रिय दमन; (६) तप; (७) अपनी आत्मा को पहचानना; (८) संसार में मन को न लगाना, वरन इस तरह जीवन व्यतीत करना जैसे जल में कमल रहता है; (९) पवित्र आचारण; (१०) अहिंसा।

जैन धर्म की शिक्षा का परम आवश्यक और प्रधान अङ्ग अहिंसा (मन से, वचन से अथवा काया से किसी को कष्ट न पहुंचाना) है। यह हमें विश्व-प्रेम की, भ्रातृभाव की अनुपम शिक्षा देता है, जिसका अनुसरण करने से मनुष्य मात्र के सभी कष्टों, दुःखों का भली-भांति और बहुत शीघ्र निराकरण हो सकता है।

जैन धर्म की दृष्टि में सभी मनुष्य एक समान हैं और एक समान उन्नति कर सकते हैं। इसलिए सभी भाई-भाई हुए; न कोई छोटा हुआ, और न कोई बड़ा ही ठहरा। यह प्राचीन धर्म भाई-भाई में भेद-भाव की शिक्षा नहीं देता।

———※:०:※———

[४]

हज़रत ईसा मसीह

लग-भग दो सहस्र वर्ष हुए, पश्चिम के प्रायः सभी देशो पर रोम-निवासियो का अधिकार और शासन था। यही कारण था कि यहूदी उन्हें अपना शत्रु जानते थे। यहूदी लोग एक ही खुदा को मानते थे। उनका एक बड़ा मन्दिर युरुशलम नगर में था। इस के अतिरिक्त प्रत्येक नगर तथा प्रधान गाँव मे भी मन्दिर बने हुए थे, जहां वे लोग रविवार के दिन भगवान् की उपासना करते थे। उन के धर्म-ग्रन्थों मे यह प्रतिज्ञा की गई थी कि खुदा की ओर से एक बड़ा नबी जिस का नाम मसीह होगा आएगा और प्रेम, सत्यप्रियता, त्याग और खुदा को प्यार करने का उपदेश देगा, तथा खुदा का राज्य मनुष्यो के हृदयों में स्थापित करेगा। कैसर आगस्टस का एक आदेश पालन करने के लिये मरियम तथा यूसुफ़ नासरत नगर से बैतलहम को गये। उसी जगह मरियम के गर्भ से हज़रत मसीह ने जन्म लिया।

हज़रत मसीह असाधारण रूपवान्, उज्ज्वल कान्ति तथा गौर वर्ण के थे। माता ने उन्हें वस्त्र में लपेट कर चरनी में रक्खा, कारण, पान्थशाला में उन्हें स्थान नहीं मिला था। जब हज़रत मसीह ने जन्म लिया, दसो दिशाएँ दिव्य ज्योति से प्रकाशमान् हो उठीं। उसी समय एक देवदूत आया और उसने



गडरियों को जो मैदानों में रहते थे, यह शुभ समाचार सुनाया कि आज तुम्हारे लिये एक मुक्ति-प्रदाता संसार में आया है वह भगवान् मसीह हैं।

उन दिनों युरोशलम नगर में काहनो के अत्याचार और पर-पीड़न का कुछ भी पारावार नहीं था। ये लोग बड़े ही दुष्ट-प्रकृति और वहमी थे और मूर्त्ति-पूजा इत्यादि अनेक धार्मिक दोषों में ग्रस्त थे। उस समय का शासनकर्ता हेरोडेस था जो घोर अत्या-चारी, अनर्थकारी, अन्यायी और पाषाण-हृदय था। उसे किसी ने कह दिया था कि एक यहूदी बालक तेरे प्राणो का ग्राहक बनेगा। मसीह के जन्म का समाचार सुन पाया तो बादशाह बहुत घबराया और कुछेक मजूसियो को जो पूर्व दिशा से आए थे और हजरत मसीह के दर्शनार्थ बैतलहम को जा रहे थे, चुपके से बुलाकर कहा कि जब तुम लोग लौट कर आओ तो मुझे उसका समस्त वृत्तांत सुनाना। मजूसियो ने बैतलहम में पहुँच कर हजरत मसीह के आगे शीष नवाया और बहुत सा सोना, लोबान इत्यादि उन्हें भेंट चढ़ाया। उसी रात उन्होंने स्वप्न में देखा कि कोई उनको कह रहा है कि लौट कर नृपति हेरोडेस के पास न जाना। इस कारण वे लोग एक अन्य मार्ग से स्वदेश को लौट गये।

उसी दिन एक देवदूत स्वप्न में यूसुफ को दिखाई दिया। उस ने कहा कि उठ और इस बालक तथा इसकी माता को साथ लेकर मिश्र देश को भाग जा और जब तक मैं तुझे सूचना न दूँ, उसी जगह रह क्योंकि हेरोडेस इस अबोध शिशु को मरवा डालने के

लिये ढूंढेगा। तब वह रात को ही हज़रत मसीह तथा मरियम को संग लेकर मिश्र देश की ओर चल दिया। इधर जब मजूसी लौट कर न आए, तो हेरोडेस के सिर पर कंस की तरह भूत चढ़ गया। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक नाकाबदी होगई और यह आज्ञा प्रचारित करदी गई कि दो वर्ष तक की अवस्था का जो शिशु मिले, बिना पूछे उसकी प्राण-हत्या कर डाली जाय। हजारों अबोध शिशुओं के रक्त से पृथ्वी रञ्जित् होगई। सहस्रों अभागेमाता-पिताओं की गोदें सूनी हो गईं। पर जिसकी भगवान् रक्षा करें, उस का कौन क्या बिगाड़ सकता है ? राजा हेरोडेस के सभी प्रयत्न विफल हुए, वह हज़रत ईसा का बाल भी बाँका नहीं कर सका।

कई वर्ष तक यूसुफ़ अपने कुटुम्ब सहित मिश्र देश मे रहा। माता अगाध स्नेह और असाधारण मनोयोग के साथ अपने पुत्र का पालन-पोषण करती रही। मसीह के माता-पिता गरीब थे सही, परन्तु प्राण-प्यारी जननी की गोद में बालक मसीह को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने पाया। आरम्भ ही से हज़रत मसीह को धर्म-विषयक बातें अत्यन्त रुचिकर थी, और जहां कहीं इस ढग का वार्त्तालाप होता, आप बड़े ध्यान और मनोयोग पूर्वक उसे सुनते थे। होते-होते उनकी आयु बारह वर्ष की होगई। उस समय उनके माता-पिता को पता लगा कि पापात्मा हेरोडेस इस संसार में नहीं रहा, तो उनके हृदय में एक बार फिर देश-प्रेम प्रबल वेग से उमड़ आया, और कई दिन पीछे वे लोग थोड़ा सा सामान साथ लेकर नासरत नगर में जा पहुंचे।

इस के बाद वे लोग ईद मनाने के लिए यरोशलम गये। जब वे लौट कर आये, तो हजरत मसीह को अपने साथ न पाया। वह यरोशलम में ही रह गए थे। ढूँढ़ते ढूँढ़ते माता-पिता सिर खपा बैठे। तीन दिन पीछे वह उन्हें हैकल (धर्म-मन्दिर वा धर्म-विषयक प्रश्नों का निपटारा करने का स्थान) में धर्म-धुरीण पुजारियों की बातें अत्यन्त चाव तथा ध्यान पूर्वक सुनने और उन से प्रश्न पूछते हुए मिले। माता ने कहा—"प्रिय पुत्र! क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारा पिता और मैं दोनों तुम्हें खोजते खोजते हैरान होगए?" इस के उत्तर में मसीह ने बड़ी ही सरलता तथा नम्रता पूर्वक यह कहा—"मैं तो अपने पिता की ही बातें सुन और कह रहा था।"

परन्तु वे लोग मसीह के इस इशारे को बिल्कुल न समझे।

इन दिनों युहन्ना अपने देश-बन्धुओं का बहुत कुछ उपकार कर रहा था। वह बड़ा ही सज्जन और धर्मात्मा था। सादा, स्वल्प और सात्विक भोजन करता और सरल-पवित्र जीवन व्यतीत करता था। तब ईसा गलेल से यरोन के किनारे युहन्ना के पास आए और उस से बप्तिस्मा लिया। उसी समय आकाश से एक आवाज़ सुनाई दी "यह मेरा प्यारा पुत्र है, जिस से मैं परम संतुष्ट हूँ।" हजरत ईसा निर्जन वन में गये जहाँ चालीस दिन तक 'शैतान' ने उनकी परीक्षा की। इस अवधि में उन्होंने कुछ न खाया उनको जब भूख लगी, तो शैतान ने उनसे कहा कि यदि तू वास्तव में खुदा का पुत्र है, तो इस पत्थर को कह कि रोटी बन जाय। ईसा ने उसको उत्तर दिया—"लिखा है कि मनुष्य केवल

रोटी से नहीं, वरन खुदा की प्रत्येक बात से जीवनी शक्ति प्राप्त करता है।"

इसके अनन्तर 'शैतान' ने उन्हें एक ऊँचे पर्वत पर ले जाकर दुनियां की सारी बादशाहतें एक क्षण मे दिखा दीं और कहा कि मै यह सारा अधिकार और समारोह तथा गौरव तुझे दूँगा, कारण यह सब मुझको सौंपा गया है, मैं जिसको चाहता हूँ देता हूँ। इसलिये यदि तू मेरे सन्मुख शीष नवाए, तब यह सब तेरा होगा।" हजरत ईसा ने उत्तर दिया—"हे शैतान! तू मेरे सामने से दूर हो, क्योंकि लिखा है कि तू अपने खुदा के सामने शीष झुका और एक मात्र उसीकी उपासना कर।" फिर शैतान उन्हें युरोशलम में लाया और हैकल के कँगूरे पर खड़ा करके उन से कहा—"जो तू खुदा का पुत्र है, तो अपने आपको यहां से नीचे गिरा दे, क्योंकि लिखा है कि वह तेरे लिए फरिश्तो को आज्ञा देगा कि तेरी देख-रेख रक्खे और तुझे हाथों पर उठायं, जिस से तेरे पांव को पत्थर की ठेस तक न लगे।" ईसा ने उत्तर में उस से कहा—"कहा गया है कि तू अपने खुदा की परीक्षा न कर।" यह सुन 'शैतान' उन से दूर भाग गया।

अब हजरत मसीह गलेल को फिरे और नगरों और धर्म-मन्दिरों में उपदेश देने लगे। दूर और निकट सब जगह उनकी ख्याति फैल गई और सब उन की प्रशंसा करने लगे। आप के भाषणों ने दशों दिशाओं में आपकी धूम मचा दी। आपका व्याख्यान देने का ढंग बड़ा ही रुचिकर, अनूठा, कर्णमधुर और

प्रभावशाली था। आप लोगों को प्रेम तथा भ्रातृ-भाव की शिक्षा देते, आततायी अमीरों को असहाय गरीबों पर अत्याचार करने से रोकते, और मूर्त्ति-पूजा करने वालों को उसी एक और अद्वितीय परमात्मा की उपासना करने का उपदेश देते थे। उन की शिक्षा जनसाधारण के हृदयों पर असाधारण प्रभाव डालती थीं। जहाँ भी जन-समूह के बीच में खड़े होकर आप व्याख्यान देते, सैंकड़ों पुरुष और स्त्रियों के हृदय इन की ओर आप से आप आकृष्ट हो हो जाते थे। हजारों आदमी चारों ओर से आ-आ कर आपकी सेवा में उपस्थित होने लगे। फरेसी और फकीह जो यहूदियों के धर्म-शिक्षक और उनके धर्म-मन्दिरों का प्रबन्ध करते थे, हजरत ईसा उनकी शिक्षा-पद्धति के छिद्र दिखाते और उस को आपत्ति-जनक समझते थे। इससे उन धर्माचार्यों की आय तथा मान-प्रतिष्ठा में बाधा पड़ती थी। यही कारण था कि वे लोग इन से अप्रसन्न और असन्तुष्ट थे।

हजरत ईसा ने बारह शिष्य बनाए, जिनके नाम ये हैं:—पित-रस, एण्ड्रियास, याकूब, युहन्ना, फैलबूस, बार्थलामा, मती, थोमा, याकूब, जैलतीस और यहूदा तथा यहूदा अस्करयुती, जिसने अन्त को उन्हें पकड़वाया। लेवी नामक एक कर उगाहने वाले ने हजरत मसीह को भारी भोज दिया। वहाँ बहुत से कर उगाहने वाले उपस्थित थे। इन्हें लोग अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। इस पर बहुत से फरेसियों और धर्माचार्यों ने हजरत मसीह से आकर कहा—"तुम क्यों कर उगाहने वालों और पापियों के साथ खाते-पीते

हो ?" उस के उत्तर में आपने कहा, "स्वस्थ, सबल और निरोग मनुष्यों को वैद्य की आवश्यकता नहीं होती, उसकी सहायता या सेवा की आवश्यकता उन लोगों को होती है जो रोगी, दुर्बल तथा अस्वस्थ हों। मैं पुण्यात्माओं को पुण्य-मार्ग दिखाने नहीं आया, प्रत्युत् पापियों को।" उन्हीं दिनों भगवान मसीह ने पर्वत पर खड़े होकर एक बड़ा ही रोचक, प्रभावशाली तथा युक्ति-युक्त व्याख्यान दिया। हज़ारों स्त्री पुरुषों ने उसको बड़े ध्यान और मनोयोग पूर्वक सुना। उन्होंने ऐसा दिव्य संदेश और धर्मोपदेश पहले कभी काहे को सुना था! वे सब चकित रह गये। इस उपदेश का सारांश भगवान् मसीह की शिक्षा में उद्धृत किया जायगा।

हज़रत मसीह केवल मौखिक बातें ही करते हों, सो बात नहीं थी, वरन वह जो कुछ कहते, कार्य-रूप से करके दिखा देते थे। वह पापियों से घृणा न करते, बल्कि जो पापी वा दुराचारी उनके पास आता, वह उसके प्रति सौजन्यता तथा प्रेम-पूर्ण व्यवहार करते और प्यार से बात चीत करते थे। आप जिधर जाते, हज़ारों लोग आपकी अगवानी के लिये दौड़े चले आते थे। वह सभी के साथ सहानुभूति और प्रेम करते थे। अनेक पुरुष और स्त्रियाँ उपदेश ग्रहण करने के लिये आपकी सेवा में उपस्थित होतीं और सब लोग शुद्धान्तःकरण से आपका आदर करते थे। छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं से हज़रत ईसा को निस्सीम स्नेह था। वह लोगों के प्रत्येक दुःख, क्लेश तथा रोग को दूर करते, पापियों को पुण्य-मार्ग, धर्म की राह दिखाते, अंधों को दृष्टि प्रदान करते, रोगियों को स्वास्थ्य

देते और अभागे कुष्ठ रोग-पीड़ितो को अच्छा करते थे। इस प्रकार के अनेक चमत्कार आपने कर दिखाए।

एक दिन आप नाईन नगर को जा रहे थे। शिष्य मण्डली तथा अनेक श्रद्धालु भक्त और अनुयायी आपके साथ थे। जब वे लोग फाटक के निकट पहुँचे, तो देखा कि लोग एक मुर्दे को नगर के बाहर ले जारहे हैं। वह अपनी विधवा माता का एकलौता पुत्र था। उस अभागी विधवा की दयनीय दशा देख भगवान् ईसा के मन में दया का समुद्र हिलोरें मारने लगा। आपने उससे कहा, रो मत, और समीप आकर सब को छुआ और कहा—"हे युवक! मैं कहता हूँ, उठ।" वह मृत पुरुष उसी क्षण जी उठा।

जनसाधारण की शोचनीय दशा देख हजरत मसीह को बड़ी दया हो आई। वे लोग उन भेड़ो के समान असहाय और दुःखित थे, जिनकी कोई देख-रेख करने वाला न हो। हजरत मसीह ने अपने बारह शिष्यों को अपना सदेश लोगों तक पहुँचाने के लिये अपने प्रतिनिधि नियत किये, और जब धर्म-प्रचार करने के लिये उन्हें भिन्न-भिन्न देशों तथा प्रदेशों में भेजने लगे, तो उनको सम्बोधन करके कहा:—

"मित्रो! धर्म-प्रचार का कार्य बड़ा ही दुष्कर है। मैं तुम को, जो भेड़ो के समान हो, उन लोगो में धर्म-प्रचार के लिये भेजता हूँ जो भेड़ियों से उतर कर नहीं हैं। तुम्हें उचित है कि इन लोगो से साँपों की तरह सावधान और सतर्क रहो, किन्तु सर्पों के समान कष्ट-प्रद न बनो, बल्कि कबूतरों की भांति सरल-चित्त रहना और

किसी को कभी, किसी प्रकार कष्ट वा हानि न पहुँचाना। जिन लोगो के बीच तुम प्रचार करने जाते हो, वे मेरा नाम सुनते ही तुम्हारे कोड़े मारेंगे, और तुम को अपने अपने स्थान से बाहर निकाल देंगे, वे तुम्हें पकड़ कर न्यायालयो मे ले जायेंगे, पर तुम घबरा न जाना। तुम देखोगे कि भाई भाई को प्राणदण्ड के लिये सौंप देगा, पिता पुत्र को और पुत्र पिता को वध कराने के लिये पकड़ा देगा, और सन्तान माता-पिता को मरवा डालने की चेष्टा करेगी।

मेरे नाम के कारण सब लोग तुम्हारे प्रति विरोध और द्वेष करने को उद्यत होजायेंगे। तुम्हे खूब जी भर कर कष्ट दिये जायँगे पर तुम्हे चाहिये कि जब तुम एक नगर में सताए जाओ, तब वहां से दूसरे मे चले जाओ, और वहां मन लगा कर धर्म प्रचार के पुनीत कार्य मे प्रवृत्त हो जाओ। तुमको उचित है कि अपने कमरबंद में सोना वा चांदी कुछ न रक्खो। रास्ते के लिये न झोली लेना, न दो कुर्ते, न जूतियां और न लाठी। जिस गांव मे प्रवेश करो, पहले पूछ लेना कि वहां सज्जन और पुण्यात्मा कौन हैं। जब तक उस गांव से कूच न करो, उसी के यहां टिके रहना। यदि कोई भी तुम्हे आश्रय प्रदान न करे वा तुम्हारी बातो पर कान न धरे, तब उस गांव वा घर से निकलते समय अपने पैरो की धूल-मिट्टी झाड़ देना।"

इसके पश्चात् हज़रत मसीह फिर अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्त्ति मे लग गये।

एक बार एक धनाढ्य युवक ने उनकी सेवा में उपस्थित होकर कहा—"गुरुदेव ! अमरत्व पाने के लिये मैं कौनसा पुण्य कार्य करूँ ?" आप ने उत्तर दिया—जो तेरी कामना यह हो कि तू अमर होजाय, अनन्तकाल तक जीवित रहे तो व्यभिचार न कर, चोरी न कर, झूठी गवाही न दे, अपने माता-पिता का आदर-सत्कार कर और अपने पड़ोसी को उसी तरह प्यार कर जैसे अपने आप को करता है।"

वह धनाढ्य बोला—"यह सब तो मैं बाल्यावस्था से ही करता आया हूँ। इन कार्यों के अतिरिक्त अब मुझे और क्या कार्य करना चाहिये ।"

तब ईसा ने उस पर एक दृष्टि डाल कर उसको प्यार किया और कहा—"एक कर्तव्य शेष है। जा और जो कुछ तेरा हो, उसे बेच डाल; और अनाथो और दीनों को बाँट दे।" पर वह बड़ा सम्पत्तिशाली और धनवान् था; इस कारण ऐसा करने मे असमर्थ रहा, और आत्म-ग्लानि और पश्चात्ताप में डूबा हुआ अपने घर को लौट गया।

जब मसीह ने देखा कि उन के इशारे पर काम करने वाले श्रद्धालु भक्तो तथा अनुयायियों की संख्या सहस्रो तक पहुँच गई है, तब आप ने काहन लोगो में अपने पन्थ का प्रचार करने के लिये यरोशलम को प्रस्थान किया। जिस समय आपने नगर मे प्रवेश, किया, आप एक गधे की पीठ पर चढ़े हुए थे, और बहुत से लोग आप के साथ थे। आप के भक्तो ने बड़े ठाठ से आप का स्वा-

गत किया, ऐसा समारोह-पूर्ण और श्रद्धा-भक्ति-युक्त स्वागत जो बड़े बड़े लोक विजेता चक्रवर्ती राजाओं को भी नसीब नहीं होता। कितने ही लोग जो हज़रत मसीह से अपरिचित थे, उनका यह ठाठ-बाट देख कर आश्चर्यान्वित हो दूसरों से पूछते थे कि यह किस देश के महाराज हैं, जिनका स्वागत ऐसे धूम-धाम के साथ हो रहा है। जो लोग जानते थे, वे उन्हें बताते थे कि यह हज़रत मसीह हमारे धार्मिक जगत् के अधिपति हैं।

यहूदियों के किसी धर्माचार्य ने एक बार हज़रत मसीह से पूछा—"परमात्मा का सब से बड़ा आदेश कौनसा है?"

ईसा ने उत्तर दिया—"सब से बड़ी आज्ञा यह है कि वह परमात्मा जो हमारा प्रभु है, एक ही है, और तू उसको अपने सारे हृदय से, अपने सारे प्राणों से, अपनी समस्त शक्ति और बल से और अपनी सारी बुद्धि से प्यार कर। और दूसरी आज्ञा जो इसी के सदृश आवश्यक तथा महत्व-पूर्ण है, वह यह है कि तू अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्यार कर। इन से बढ़ कर और कोई आज्ञा नहीं है।"

एक दिन हज़रत मसीह एक ऊँचे पर्वत पर गये। पितरस, याकूब और युहन्ना भी उन के साथ थे। वहां आप का मुख-मण्डल दिव्य तेज से सूर्य की भाँति प्रदीप्त हो उठा और आप का परिधान प्रकाशमय तथा उज्ज्वल हो उठा। हज़रत मूसा तथा हज़रत इलियास आप से वार्तालाप करते हुए दिखाई दिये। एक दिन कुछेक यूनानी, मसीह से साक्षात्कार करने आये। आपने उनसे

कहा—"समय आ पहुंचा है जब आदेश का पुत्र गौरवान्वित होगा। दाना भूमि मे पड़ कर यदि अपना अस्तित्व न मिटा डाले, तो अकेला रहता है, किन्तु यदि वह मिट जाय तो बहुत सा फल लाता है। व्यक्ति अपने जीवन को प्रिय रखता है, वह उसे खोएगा, और जो इस संसार में अपने जीवन के प्रति वैर या द्वेष भाव रखता है, वह उसे अमरत्व प्राप्ति के लिये सुरक्षित रक्खेगा।" इसके अनन्तर उन्होंने फरेसियों तथा यहूदियों के धर्मोपदेष्टाओं को सम्बोधन करके कहा—"हे धर्माचार्यो! तुम पर धिक्कार है! तुम ने भगवत् ज्ञान की कुंजी ले ली पर आप भीतर प्रवेश न किया, बल्कि प्रविष्ट होने वालों को भी रोक रक्खा!" ये लोग तो पहिले ही यह चाहते थे कि मसीह के मुख से कोई ऐसी-वैसी बात निकले, और उन पर अभियोग चलाने का सुअवसर मिले। इस कारण उन्हें बे-तरह छेड़ने और उनसे चिमटने लगे।

हजरत मसीह ने उनकी ओर मुख फेर कर कहा—'ओठो से आदर सत्कार करना निष्फल है। जो पौधा मेरे स्वर्गीय पिता ने नही लगाया, वह समूल नष्ट कर दिया जायेगा। ये लोग अंधे अंधो की राह दिखाने वाले हैं जो अंधा अंधे का पथ-प्रदर्शन करे, तो निश्चय ही दोनो गढ़े मे गिरेंगे।"

एक फरीसी ने आपसे प्रार्थना की कि मेरे साथ भोजन करने की कृपा कीजिये। जब वह भोजन करने बैठे, तो उसको यह देख-कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन्होंने भोजन पर बैठने से पहले स्नान नही किया। यह देख भगवान् ईसा बोले:—"हे धर्माचार्यो! तुम

कटोरे और थाली को ऊपर से खूब माँज धोकर साफ करते हो, पर तुम्हारा अन्तःकरण पाप-वासनाओं, खोट और लूट से मलिन और कलुषित है। अज्ञानियो ! क्या जिसने बाहर को बनाया; भीतर को नहीं बनाया ? तुम मच्छर को तो छानते हो, पर पूरे ऊँट को निगल जाते हो। दुष्ट जनो ! तुम उन क़ब्रों के समान हो, जिन पर सफेदी फिरी हुई हो, जो ऊपर से बड़ी सुन्दर और दर्शनीय प्रतीत होती हैं, पर भीतर हड्डियों और गन्दगी को छोड़ कुछ नहीं होता। तुम ऊपर से तो सत्यप्रिय, निष्कपट और धर्मात्मा बने फिरते हो, पर तुम्हारे मन, कपट, झूठ तथा अधार्मिकता से भरे पड़े हैं !"

"हे धर्माचार्यो ! तुमको लाख बार धिक्कार है ! तुम पौदीना, सुदाब और प्रत्येक शाक-भाजी की दसौंध (दशमांश) देते हो और न्याय-प्रियता और ईश्वर प्रेम को तरह देते हो। उचित यह था कि इनको करते और उनको भी न छोड़ते। हे पथ-भ्रष्ट लोगो ! तुम्हारी हीन दशा पर दया आती है। हा खेद ! तुमने न्याय-प्रियता, प्रेम-भाव और धर्म-पथ का परित्याग कर दिया है। हे धर्म सिखाने वालो ! तुम न आप अच्छी बातों को सुनते हो, और न दूसरों को ही सुनने देते हो। एक शिष्य बनाने के लिये जल तथा स्थल की लम्बी-लम्बी यात्राएँ करते हो और मारे-मारे घूमते हो पर जब वह शिष्य बन चुकता है, तब उसे कोई शिक्षा या उपदेश नहीं देते और नरक की ज्वालाओं में भस्म होने के लिये छोड़ देते हो ! तुम दुर्वह भार लोगों के सिरों पर लादते हो, और आप एक उँगली से भी उन बोझों को नहीं छूते !"

इसके पश्चात् आपने युरोशलम को सम्बोधन करके कहा—"हे युरोशलम! हे युरोशलम नगरी! तू नबियो की हत्यारिणी प्रसिद्ध है जो जो नबी तेरे पास इस अभिप्राय से आता है कि तेरे पुत्रो को धर्म की शिक्षा दे, पाप-मय और कलुषित जीवन से उनकी रक्षा करे और उन्हे धर्म-पथ पर चलाये, तू उसी की हत्या करा डालती है। जो तेरे पास पहले भेजे गये, तूने उन्हे पत्थरो से मरवा डाला। कितनी ही बार नबी तेरे पास आए, और उन्होंने चाहा कि अपनी पवित्र शिक्षा से तेरे पुत्रों को सुरक्षित स्थान मे पहुँचा दे, परन्तु तूने न चाहा और किसी की एक न सुनी। मेरी भी इच्छा यही है कि तेरे पुत्रों को एकत्रित करूँ और उन्हे सर्वनाश के मुख से बचाने का उपाय करूँ, पर कदाचित् तेरे कान नही हैं जो तू मेरी बात को नही सुनती है।"

उस दिन से काहन लोग तथा फरीसी इत्यादि इसी चिन्ता मे डूबे रहने लगे कि कोई उचित अवसर पाएँ, तो खुल्लम खुल्ला अथवा गुप्त रीति से हजरत मसीह को इस असार संसार से चलता कर दें। वे लोग उन पर दाँत तो बहुत पीसते, किन्तु वाद-विवाद के समय एक अक्षर भी उनके मुख से न निकलता। फलतः वे गुप्त भाव से परस्पर यह परामर्श करने लगे कि मसीह को ऐसी बातो में फसाएँ जिससे उन पर राज-विद्रोह का अभियोग चलाया जा सके और वह गुरु दण्ड पा जायँ। एक दिन उन्होने मसीह की सेवा मे उपस्थित हो कर कहा—"हे गुरुदेव। आप सच्चे हैं और सच्ची शिक्षा लोगो को देते हैं। आप उन्हे प्रभु

के राज्य में प्रवेश करने के लिये बुलाते हैं, शुभ कर्म करना और कर्तव्य-पथ पर चलना सिखाते हैं। कृपापूर्वक हमें यह बताइये कि क़ैसर को कर देना उचित और न्याय-संगत है या नहीं।"

भगवान् मसीह तुरन्त असल बात ताड़ गये और बोले—"मुझे अपने टैक्स का सिक्का दिखाओ।" उन्होंने एक दीनार आपके हाथ पर रक्खा। उसे देखकर आपने पूछा, यह चित्र तथा नाम जो इस दीनार पर अङ्कित हैं किस के हैं?" लोगों ने कहा-"कैसर के।" इस पर मसीह बोले—"जो वस्तु कैसर की है, वह कैसर को सौंप दो, और जो वस्तु प्रभु की है, उसे प्रभु के प्रति अर्पण कर दो।" यह बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर सुना तो फरेसी चकित रह गये और अपना सा मुँह लेकर चले गये।

यरोशलम एक अन्य जाति का भी निवास-स्थान था, जो "सदूकी" कहलाती थी इस जाति के लोग भी वाद-विवाद के लिये हज़रत मसीह की सेवा मे उपस्थित हुए, पर उन्होंने अपने युक्ति-पूर्ण तथा प्रभावशाली उपदेश से उन को भी निरुत्तर करके छोड़ा। फरेसी फिर आए और फिर दुष्टता करने लगे। इस समय हज़रत मसीह ने अपने शिष्यों को सम्बोधन करके कहा:—

"मित्रो! यहूदियो के धर्मोपदेष्टा और आचार्य फरेसी इत्यादि मूसा की गद्दी पर बैठे हैं। जो शिक्षा तौरेत से वे लोग तुम को दे, वह सब करो और मानो, किन्तु जैसे कार्य वे लोग स्वयं करते हैं, वे कदापि न करो। कारण, वह केवल कहते हैं, करते नहीं, जो करते हैं, वह उन के वचनो तथा उपदेशो के सर्वथा प्रतिकूल

होता है। वे अपने सभी कार्य कपटी दुरात्माओं की तरह केवल दूसरों को दिखाने के लिये करते हैं। वे धर्म-मंदिरों और सभाओ में ऊँची-ऊँची चौकियों पर बैठना पसंद करते हैं और बाजारो में सलाम कराना और संरक्षक और बड़ा कहलाना उन्हें भाता है। किन्तु मेरे प्रिय जनो! तुम प्रधान या बड़े न कहलाओ, प्रत्युत एक दूसरे को अपना भाई जानो। तुम्हारा सबका पिता वही एक, अद्वितीय परमात्मा है। तुम मे जो अपने आप को सब से बड़ा समझता है, वस्तुतः वह सब से छोटा है, और जो अपने आप को सब से छोटा समझेगा, वह बड़ा किया जायगा। इस लिये अहम्मन्यता, घमण्ड तथा शठता को अपने मनोराज्य से निकाल डालो और परोपकार तथा शुभ कार्यों में मन लगाओ।"

इस के अनन्तर आप ने उन से कहा कि "दो दिन पीछे आदम का पुत्र क्रॉस पर चढ़ाए जाने के लिये सौंप दिया जायगा।" काहनो के सरदार तथा जाति के नेता कयाफ़ा ने उन्हें छल पूर्वक मरवा डालना चाहा। मसीह का शिष्य यहूदा असकरयुती काहनों के सरदार से जा कर मिल गया, और केवल तीस रुपये घूँस लेकर उन्हें शत्रुओ के हाथ में पकड़वा देना स्वीकार कर लिया। ईद के दिन सध्या समय जब आप अपने बारहों शिष्यों सहित भोजन करने बैठे, तो आपने भविष्य-वाणी की कि जो मेरे साथ तबाक मे हाथ डालता है, वही मुझे पकड़वाएगा। इस पर यहूदा अस्करयुती ने जिसने उन्हें पकड़वाया। उत्तर में कहा—"हे रब्बी क्या वह मैं हूँ?" आप बोले तूने आप ही कहा।"

उस दिन रात को हज़रत ईसा ने प्रार्थना की—"हे पिता ! यदि सम्भव हो तो कठिन परीक्षा का प्याला मुझ से गुज़र जाय। तब भी मेरी इच्छा के अनुकूल नहीं बल्कि तेरी इच्छा के अनुसार हो। प्रार्थना करके लौटे तो देखा, उनके शिष्य निद्रा-मग्न थे। फिर दूसरी बार प्रार्थना की और कहा—"हे मेरे पिता ! जो मेरे पिये बिना यह प्याला मेरे पास से नहीं जा सकता, तब भला ! तेरी इच्छा पूर्ण हो !" इस के बाद उन्होंने अपने शिष्यों को जगाया और कहा कि अब वह घड़ी आ पहुँची, जब आदम का पुत्र पापियों के अर्पण किया जायगा; उठो चलें, देखो जो मुझे पकड़वाता है वह दूर नहीं है।"

उसी समय काहनों के सरदार और जाति के गुरुजनों की ओर से बहुत से लोग तलवारें लाठियाँ हाथों में लिये वहाँ आन पहुँचे। उनके आगे-आगे वही यहूदा अस्करयुती था। उन्हें पहचनवाने के निमित्त वह उनके चरणों में लोट गया और उनके पाँव चूमे। हज़रत ईसा ने कहा—"तुम जैसे चोर पकड़ने को तलवारें और लाठियाँ लेकर निकले हो ! मैं नित्य-प्रति हैकल में तुम्हारे साथ रहता था। उस समय तुमने मुझ पर हाथ न डाला !"

तब काहनों के सरदार ने उन से उनकी शिक्षा के विषय में प्रश्न किया। आपने उत्तर दिया—"मैंने धर्म-मन्दिरों तथा हैकल में जहाँ यहूदी सब समय आते जाते रहते हैं खुल्लम खुला, प्रकाश भाव से शिक्षा दी और अप्रकट रूप से कभी कुछ नहीं कहा। फिर तू किस लिये यह प्रश्न करता है ? उन्हीं से पूछ कि मैंने क्या कहा।"

इस पर एक सिपाही ने उनके मुँह पर तमाचा मार कर कहा—"तू काहनो के सरदार को ऐसा उत्तर क्यों देता है ?"

ईसा ने उत्तर दिया—"जो मैंने बुरा कहा, तो बुराई की गवाही दे, किन्तु यदि अच्छा कहा, तब फिर तू मुझे किस लिये मारता है ?"

अब हज़रत ईसा, रूमी हाकिम (शासन-कर्त्ता) स्रातूस को सौंप दिये गये। यहूदियो ने कहा कि यह जाति को बहकाता है, हमे क़ैसर को उसका कर चुकाने से रोकता है और अपने आप को 'मसीह बादशाह' कहता है। स्रातूस के प्रश्न के उत्तर में हज़रत मसीह बोले—"मेरी बादशाहत इस लोक की नहीं है। जो यह इस दुनियां की होती, तब मेरे श्रद्धालु भक्त तथा अनुयायी लड़ाई करते, जिससे मैं इन लोगों के हाथ न पकड़ा जाऊँ।"

स्रातूस तुरत समझ गया कि काहनों के सरदार ने उन्हें ईर्ष्या वश पकड़वाया है और उन्हें सर्वथा निर्दोष ठहराया और बंधन-मुक्त कर देना चाहा। उन दिनो यह प्रथा थी कि ईद के उत्सव पर बहुत से बंदियो में से एक को छोड़ देते थे, चाहे उसका दोष कैसा ही गुरुतम क्यों न हो। इसलिये स्रातूस हज़रत मसीह को छोड़ देना चाहता था, किन्तु लोगो ने अस्वीकार कर दिया। फल यह हुआ कि उसने बर अब्बास नामक एक हत्यारे को कारागार मुक्त करके ईसा को जल्लादों को सौंप दिया, किन्तु कहा—"इस निरपराध व्यक्ति की हत्या में मेरा कोई दोष नही है, उसका लहू तुम्हारी गरदनों पर होगा। तुम जानो।"

यह दशा देख यहूदा अस्करयुती को अपने किये पर अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ और वह तीस रुपये काहनो के सरदार तथा अन्यान्य पचो के पास लौटा ले गया और कहने लगा कि मै बड़ा पातकी हूँ, मैंने घोर अनर्थ किया जो एक सर्वथा निर्दोष व्यक्ति को प्राण-दण्ड दिलाने के लिये पकड़वाया ! जब उन लोगो ने रुपये लेना अस्वीकार कर दिया, तब वह उन्हे हैकल मे फैंक कर लौट गया, और आप जाकर फांसी ले ली। काहनो के सरदार ने उन रुपयो को कोष में डालना इस लिये उचित न जाना, क्योंकि वह लहू का मूल्य था, और उससे एक कुम्हार का खेत परदेसियो को गाड़ने-दफ़नाने के लिये मोल ले लिया। वह खेत आज तक "खून का खेत" कहलाता है।

हत्यारे कोड़े मारते मारते हज़रत मसीह को दुर्ग मे ले आए। यहाँ बहुत से लोग उन्हें तंग करने और सताने के लिये आए। उन्होंने मसीह को एक किरमजी रंग का कोट पहनाया और कांटो का मुकुट बना कर उनके सिर पर रख दिया गया और उनकी हँसी उड़ाने लगे। किसी ने उनके मुँह पर थूक दिया, किसी ने उनको गालियाँ दीं, किसी ने उनकी निंदा की। सक्षेपतः वे लोग उन्हे इसी प्रकार कष्ट देते रहे। दुर्ग से वे लोग वध्य-भूमि मे आए। यहां आकर हज़रत ईसा को प्यास लगी। उन्हो ने पीने के लिये जल मांगा, परन्तु उन पाषाणहृदय दुष्टो ने रेत मिला हुआ मद्य दिया जिसे चख कर आपने छोड़ दिया। इसके अनन्तर आपको वे वस्त्र पहिनाए गये जो मृत्युदण्ड दिये जाने के समय

पहिनाए जाया करते हैं, और उन्हें कोरी नामक स्थान पर क्रॉस पर खींचा। दो दुष्ट अपराधियों को भी उनके साथ ही सूली पर चढ़ाया गया, एक को उनके दाहिनी ओर और दूसरे को बाईं ओर। काहन लोगों ने हज़रत ईसा के वध का कारण एक पत्र पर लिख उनके सिर से ऊँचा टांग दिया और सब लोग उनकी हँसी उड़ाते रहे। इसपर हज़रत ईसाने कहा—"हे पिता! इनका अपराध क्षमा करदे; ये नहीं जानते कि हम क्या कर और कह रहे हैं!

तब छटे घंटेसे नौवें घंटे तक समस्त भूमण्डल अंधकारमय हो गया। जब नौवाँ घँटा हुआ, तो हज़रत ईसा ने बड़े उच्च स्वर से चिल्ला कर कहा—"हे मेरे प्रभु! हे मेरे प्रभु!! तूने मुझे क्यों परित्याग कर दिया?" एक आदमी ने स्पंज का एक टुकड़ा सिरके में भिगो नरसल पर रख कर उन्हें चुसाया। उसी क्षण वह उच्च स्वर से पुकार उठे—'हे पिता! मैं अपनी आत्मा तेरे हाथों में अर्पण करता हूँ।" यह कहते ही प्राण-विसर्जन कर दिये! हज़रत मसीह की आत्मा देह-रूपी पिंजरे से मुक्त हो गई! मसीह जो सब को धर्म का उपदेश देते, उन्हें सन्मार्ग दिखाते, सब को उनके कर्तव्यों से परिचित और उनके पालन करने की शिक्षा देते, और शक्तिमानों को असहायों और दुर्बलों पर अत्याचार तथा अन्याय करने से रोकते थे, कुर्बान कर दिये गये! हा दुःख! उनके देश-बन्धुओं ने उनका समुचित मूल्य न जाना, सदा उनके प्रति द्वेष-भाव दिखाते रहे, अनेक प्रकार के दुराचरण किये, अपरिमित कष्ट तथा यन्त्रणा दी और अन्त को उनके प्राण लेने से भी न चूके!

इस के अनन्तर मातूस की अनुमति प्राप्त कर के उनकी शिष्य-मण्डली ने हज़रत ईसा की देह को सूती वस्त्र में लपेट कर सुगन्धियो के साथ दफ़न कर दिया। जैसा कहा गया था, सलीब दिये जाने के बाद तीसरे दिन हज़रत ईसा फिर जी उठे। पहले मरियम को दर्शन दिये, फिर शिष्यों को दिखाई दिये, उसके पश्चात् आप थोमा पर प्रकट हुए। इस के अनन्तर उनके ग्यारह शिष्य गलेल के उस पर्वत पर गये, जहाँ जाने के लिये हज़रत ईसा ने उन्हें कहा था। वहाँ शिष्यो ने उनके चरणों मे शीप नवाया। उन्हें समुचित उपदेश देकर और आवश्यक बाते बताकर आप आकाश पर चले गये।

हज़रत मसीह का त्याग एक असाधारण तथा अपूर्व त्याग था, जो रंग लाये बिना नहीं रह सकता था। जिस उद्देश्य के लिये वह इस संसार में पधारे थे, अन्त को उसकी पूर्ति हो कर रही। उन के अनुयायियों और भक्तो की संख्या आज संसार में करोड़ो तक पहुँची हुई है और उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। संसार के दो प्रधानतम मतों में एक ईसाई मत है।

मसीह का जीवन एक आदर्श, अति उच्च और नितान्त पवित्र जीवन था। वे मृत्यु पर्यन्त दूसरों को सत्पथ दिखाने के लिये दीपक के समान प्रकाशमान् रहे। वे बाल-ब्रह्मचारी थे। उन्हो ने अपना समस्त जीवन ज्ञान-प्राप्ति और परोपकार में बिता दिया। उनका कट्टर से कट्टर विरोधी भी उनके आचरण मे एक भी छिद्र निकाल कर नहीं दिखा सकता। बाईबिल को, जिस मे हज़रत ईसा

का जीवन-चरित्र तथा उनके उपदेश लिये हुए हैं, ईसा मतावलम्बी अपना धर्म-ग्रन्थ मानते हैं।

हज़रत मसीह की शिक्षा

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, हजरत ईसा की शिक्षा अत्यंत सरल किन्तु भावपूर्ण और आप का शिक्षा देने का ढंग बड़ा ही रोचक, प्रभावशाली और खूब जोरदार था। आप सब को प्रेम और भ्रातृ-भावकी शिक्षा देते, शक्तिमान् अत्याचारियो को असहाय दीनों पर अत्याचार और अन्याय करनेसे रोकते थे। मूर्त्ति-पूजकों को एक, अद्वितीय ईश्वरकी उपासना करनेका उपदेश देते थे। इनकी शिक्षा ऐसी अनुपम थी कि जनसाधारण के हृदयों में झट घर कर लेती थी। यही कारण है कि आप जहां भी जन-समूह मे खड़े होकर उपदेश देते, सैकड़ो पुरुषों तथा स्त्रियों के हृदय आप से आप आपकी ओर आकृष्ट होजाते थे। उचित कालमे यह दशा हो गई कि सहस्रों स्त्रियाँ और पुरुष चारों ओरसे आ आकर आपकी सेवा में उपस्थित होने लगे। होते होते सारे भूमण्डल में ईसाई धर्म का प्रचार होगया, यहां तक कि आज जितने अनुयायी इस मतके संसार में पाए जाते हैं, उतने बौद्ध धर्मके सिवा अन्य किसी भी मत या धर्मके नहीं हैं। कोई भी भू-खण्ड और कोईभी देश ऐसा नहीं है जहां ईसा के मतावलम्बियों की भारी संख्या न पाई जाती हो।

हजरत ईसा प्रायः छोटी-छोटी, रोचक तथा उपदेशपूर्ण कथा-कहानियों द्वारा शिक्षा दिया करते थे। आप की शिक्षा का सारांश नीचे लिखा जाता है :—

"सब से बड़ा आदेश यह है कि वह प्रभु जो हमारा खुदा है, एक ही खुदा है, और तू उसको जो तेरा स्वामी है, अपने सारे हृदय से, अपने सारे प्राणों से, अपनी सारी बुद्धि से और अपने समस्त बल तथा शक्तियों से प्यार कर।"

"दूसरी आज्ञा जो इस के समान है यह है कि तू अपने पड़ोसी को अपने समान प्यार कर।"

"जो तुझ पर दया दिखावे वही तेरा पड़ोसी है।"

"जो तेरा भाई कोई अपराध करे तो उस को सात बार तक नहीं, वरन सात से सत्तर बार तक क्षमा कर। यदि तुम में से प्रत्येक, अपने अपने भाइयों के अपराध सच्चे हृदय से क्षमा नहीं करेगा, तब फिर स्वर्गीय पिता भी उस के प्रति वैसा ही बर्त्ताव करेगा। अपने भाइयों के साथ मिलाप करना सब प्रकार की बलि-भेंट से अच्छा है।"

"प्रभु प्रेम है। सब के साथ प्रेम करो।"

"परमात्मा पथ-भ्रष्ट लोगों को ढूंढता तथा पापियों को अपनी गोद में लेना स्वीकार करता है।"

"विनम्रता धर्म का मानो प्राण है। जो कोई अपने आप को बड़ा ठहराता है, वह छोटा किया जायगा और जो अपने आप को तुच्छ क्षुद्रतम जानता है, वह बड़ा और श्रेष्ठ किया जायगा।"

"प्रभु की आज्ञा उल्लङ्घन करना बहुत बुरी बात है।"

"अपने अमूल्य जीवन के दिन आलस्य में वृथा मत गँवाओ। सदा सचेष्ट, सतर्क, प्रयत्नशील तथा तैयार रहो।"

"धन्य हैं वे जो दिल के गरीब हैं, कारण, स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है। धन्य वे हैं जो शोकातुर हैं क्योंकि वे सान्त्वना के अधिकारी होंगे। धन्य वे हैं जो विनम्र और विनय-शील हैं, कारण वे पृथ्वी के उत्तराधिकारी होंगे। धन्य वे हैं जो सत्य तथा न्यायके भूखे और प्यासे हैं क्योंकि वे ही सुसम्पन्न और सम्पत्ति-शाली होंगे। धन्य वे हैं जो दयालु स्वभाव हैं, क्योंकि उनके प्रति दया दिखाई जायगी। धन्य वे हैं जिनके हृदय पवित्र और निर्मल हैं क्योंकि उन्हे प्रभु का साक्षात्कार प्राप्त होगा। धन्य वे हैं जो सन्धि कराने वाले हैं, कारण वे प्रभु के पुत्र कहलाएंगे। धन्य वे हैं जिन्हे धर्म और सत्य के कारण कष्ट दिये जाते हैं, कारण, स्वर्ग के राज्य के अधिकारी वे ही ठहरेंगे।"

"अगलों से कहा गया था कि तू व्यभिचार न कर, किन्तु मैं तुम्हें कहता हूँ कि जो कोई बुरी कामना से किसी स्त्री पर दृष्टि डाले, वह अपने मन में उसके साथ व्यभिचार कर चुका। इस लिये यदि तेरी दाहिनी आंख तेरे ठोकर खाने का कारण हो, तो उसे निकाल डाल। एक अङ्ग का न होना अच्छा है,पर यह अच्छा नहीं कि सारा शरीर नरक-यातना भोगे। जो कोई अपनी स्त्री को व्यभिचार के अतिरिक्त अन्य किसी कारण घरसे निकालता है, उससे व्यभिचार कराता है और जो ऐसी परित्यक्ता स्त्रीके साथ विवाह करता है, वह उसके साथ व्यभिचार करता है।"

"कहा गया है कि अपने पड़ोसी से मित्रता रख और अपने शत्रु से द्वेषभाव तथा वैर, परन्तु मैं तुमको कहता हूँ कि अपने

शत्रुओ को प्यार करो और जो तुम्हें धिक्कारें, उनके लिये शुभ कामना करो, जो तुम से द्वेष और ईर्ष्या रक्खे, उनका उपकार करो और जो तुम को कष्ट-दुःख दे, उनके लिये प्रार्थना करो, जिससे तुम अपने स्वर्गीय पिता के सुयोग्य पुत्र कहलाने के अधिकारी बनो। वह, सज्जनों और दुर्जनों दोनों पर सूर्य का प्रकाश और चन्द्रमाकी ज्योति फैलाता है और अच्छों और बुरों दोनों ही पर जल बरसाता है। केवल तुम उन्हींको प्यार करो, जो तुम्हे प्यार करते हैं, तब फिर तुम्हारे लिये क्या सुलभ है ? ऐसा तो सभी करते हैं। यदि तुम अपने ही भाइयों को अभिवादन करो, तब फिर दूसरों से क्या अधिक किया ? तुम प्रभु की तरह पूर्ण बनो।"

"प्रतिहिंसा के विषय में कहा गया है कि आंख के बदले में आंख और दांत के बदले में दांत लो, परन्तु मैं तुम से कहता हूँ कि अत्याचारी और आतताईका सामना न करना, वरन यदि कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, तो दूसरा भी उस की ओर फेरदो। जो कोई तुझ पर नालिश करके कोट लेले, तो कुर्ता भी उसे ले लेने दे। जो कोई तुझे एक कोस बेगार में लेजाय, उसके साथ दो कोस चला जा। जो कोई तुझ से कुछ मांगे, उसे दे और जो तुझ से ऋण लेना चाहे, उसकी ओर से मुंह न मोड़।"

"यदि तू चाहता है कि प्रभु को पसंद आए, तब अपने शुभ कर्मों को लोगों के सामने दिखलाने के लिये न कर। जब तू दान दे, तो चाहिये कि इस ढंग से दे कि तेरा दायां हाथ दे और बाएँ को पता भी न लगने पावे। इसी प्रकार अप्रकाश्य भावसे प्रार्थना

उपासना कर। कपटी और ढोंगी लोगों की तरह धर्म मन्दिरों अथवा सड़कों के कोनों-किनारों पर खड़े होकर प्रार्थना न कर, जिससे लोग तुझे देखें। प्रार्थना करते समय व्यर्थ ही बक बक न कर। दूसरों की तरह अपने मन में इस विचार को स्थान न दे कि बहुत बोलने से तेरी सुनी जायगी, कारण, तेरा पिता तेरे मांगने से पहिले ही यह जानता है कि तुझको किन किन वस्तुओं की आवश्यकता है। व्रत-उपवास करे तो कपटी और ढोंगी आदमियों की तरह दूसरों को जतलाने के लिये अपना मुख उदास न बना, नहीं तो तू अपना बदला पा चुका!"

"किसी बात की चिन्ता न करो। प्रभु से कोई भी बात छिपी नहीं है। वह आप ही तुम्हें सहायता प्रदान करेगा।"

"प्रभु पर पूर्ण विश्वास रक्खो। धन-द्रव्य अपने लिये पृथ्वी पर संग्रह न करो वरन स्वर्ग में इकट्ठा करो, जहां न कीड़ा नष्ट कर सकता है, न मोर्चा लगता है, और न चोर ही चुरा सकता है।"

"तुम ईश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकते, क्योंकि यह परम आवश्यक है कि एक के प्रति स्नेह और भक्ति भाव रक्खोगे और दूसरे के प्रति द्वेष और अश्रद्धा अथवा एक को मानोगे और दूसरे को तुच्छ जानोगे।"

" विश्वास तथा दृढ़ निश्चयपूर्वक प्रार्थना करो। मांगो, तुम्हे दिया जायेगा; खोजो तुम पाओगे; खटखटाओ तो द्वार तुम्हारे लिये खोल दिया जायगा। तुम में से कौन पुरुष वा स्त्री है कि उसका पुत्र उससे रोटी मांगे और वह उस को पत्थर

दे ? अथवा यदि मछली माँगे तो उसको सर्प दे ? जब तुम बुरे होकर भी अपने पुत्रो को अच्छी वस्तुएँ देना जानते हो, तब फिर तुम्हारा स्वर्गीय पिता, उन्हें, जो उस से याचना करते हैं, कितनी बहुत अच्छी वस्तुएँ प्रदान करेगा ?

"जो कुछ तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ करें, वैसा ही तुम भी उनके साथ करो। बस तौरेत और नबियो की महत्वपूर्ण शिक्षा का निचोड़ यही है।"

"दूसरो के छिद्र ढूँढने से बचो, जिससे तुम्हारे छिद्र भी न ढूँढे जायँ। जिस गज़ से तुम दूसरो को नापते हो, उसी से तुम को नापा जायेगा। तुम्हे अपने भाई की आंख में तिनका तो दिखाई देता है किन्तु अपनी आंख मे कड़ी नहीं देख पड़ती। पहले अपनी आंख से शहतीर निकाल डालो, पीछे अपने भाई की आंख से तिनका निकालना।"

"अगलों से कहा गया था कि तू झूठी शपथ न खा और जो कुछ शपथपूर्वक कहे, उसे पूरा कर किन्तु मैं तुम्हे कहता हूँ कि कभी भूल कर भी शपथ न खाना, न तो आकाश की क्योंकि वह प्रभु का सिंहासन है, और न अपने सिर की, क्योंकि तू उसका एक बाल भी सफेद या काला नही कर सकता! तुम्हारी वार्तालाप में हां की हां और नही की नहीं हो, कारण जो इस से अधिक है, वह बुराई से होता है।"



हजरत जरदुश्त

GITA PRESS GORAKHPUR

[५]

हज़रत ज़रतश्त

महात्मा ज़रतश्त या ज़ुराष्ट्र को फ़ारस के इतिहास में वही पद प्राप्त है जो भारतवर्ष के इतिहास मे भगवान् बुद्ध को है। जैसे भगवान् बुद्ध का जन्म एक उज्ज्वल यश और कीर्तिशाली राजवंश में हुआ था, उसी प्रकार महात्मा ज़ुराष्ट्र भी एक प्रतिष्ठित राज-कुल में उत्पन्न हुए थे और जिस प्रकार भारत के बुद्ध देव ने घर-बार पिता-माता, पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, सांसारिक-सुखभोग परित्याग कर ससार को निर्वाण पद प्राप्ति का मार्ग दिखाया था, वैसे ही फारस के उपदेष्टा ज़ुराष्ट्र ने भी सर्वस्व त्याग दूसरो के कल्याण साधन के निमित्त अपना जीवन अर्पण कर दिया था। भगवान् बुद्ध और हज़रत ज़रतश्त के जीवन में एक से अधिक घटनायें ऐसी पाई जाती हैं, जो परस्पर मिलती-जुलती हैं, जैसे यदि बुद्ध देव ने भारत के प्रधान राजाओ को अपना शिष्य बनाया, तो हज़रत ज़रतश्त ने भी तब तक सुखपूर्वक साँस नहीं ली जब तक फ़ारस देश के प्रख्यात् नरपतियों को अपना शिष्य नहीं बना लिया।

इसमें कुछ भी सदेह नहीं है कि महात्मा ज़रतश्त एक प्रशं-सनीय उद्देश्य (मिशन) को हाथ में लेकर प्रचार क्षेत्र में अग्रसर हुए थे और उन्होंने पुरुषोचित वीरता के साथ उन सभी कठिना-

इयों और असुविधाओं का मुक़ाबला किया, जो उन के मार्ग में उपस्थित हुईं अथवा की गईं। उन्होंने साहस, उत्साह तथा धैर्य को कभी हाथ से नहीं खोया, यहां तक कि अपने उद्देश्य की बलि-वेदि पर अपने प्राणों तक की भी आहुति दे डाली।

महात्मा ज़रतश्त के काल-निरूपण के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में भारी मतभेद पाया जाता है। कुछ उसे महात्मा मसीहसे ६ सहस्र वर्ष पहले हुआ बताते हैं,किन्तु बहुतसे गण्य-मान्य लेखक ज़ारतश्त का काल मसीहसे ६ सौ वर्ष पहले निरूपित करते हैं, यही विचार ठीक मालूम होता है। पारसियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ "अरतवराफ़" में एक हवाला इस आशय का पाया जाता है कि हज़रत ज़रतश्त का जन्म मसीहसे ६सौ वर्ष पहले हुआ था। उक्त पुस्तकमें लिखा है:—

"पुण्यवान् और धर्मात्मा ज़ुराष्ट्र ने अपने मत को संसार के सभी भागों मे फैलाया और यह मत तीन सौ वर्ष तक सर्वथा शुद्ध, पवित्र और निर्मल रहा और इसके मानने वालों के हृदयों मे शङ्का अथवा संदेहात्मक विचार नहीं घुसने पाया। किन्तु तीन सौ वर्ष के अनन्तर शैतान ने लोगों को बहका कर इस मत से विमुख करना चाहा और अपने इस अभिप्राय की सिद्धि के लिये उसने सिकन्दर रूमी को जो उन दिनों मिश्र देश में था, इस बात के लिये तैयार किया कि वह फ़ारस देश पर आक्रमण करे। सिकन्दर फ़ारस पर चढ़ आया और इस मत के धर्मपरायण, शुद्ध-हृदय अनुयायियों को तलवार के घाट उतार उनके उपासना-मन्दिरों को तोड़-फोड़ मिट्टी मे मिला दिया।"

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व ज़ुराष्ट्र द्वारा प्रचारित मत तीन सौ वर्ष तक फ़ारस देश में भली-भांति प्रचलित रहा और सिकन्दर मसीहसे ठीक तीनसौ वर्ष पहले हुआ है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि यह धारणा कि हज़रत ज़रतश्त मसीह से ६ सौ वर्ष पूर्व हुए, प्रायः ठीक ही मालूम होती है।

ज़रतश्त को जन्म देने का श्रेय फ़ारसके प्रसिद्ध नगर आज़र-बाईजान को प्राप्त है जो मीडिया प्रांत के पश्चिम की ओर है।, और सहस्रों वर्षों से ख्याति रूपी आकाश पर चमकता चला आता है। हज़रत ज़ुराष्ट्र के नामों के भी अनेक कारण बताए गए हैं, जैसे कुछ लोगों का मत है कि वह पहले पीले रंग के वस्त्र पहिनते थे, इस लिए लोग उन्हें ज़ुराष्ट्र के नाम से पुकारते थे। बहुतस लोगो का मत इससे भिन्न है। वह कहते हैं कि इस शब्द का अर्थ है ऊँटों से प्यार करने वाला और हज़रत ज़ुराष्ट्र ऊटो से प्यार करते थे, इसी लिए वह इन नाम से प्रसिद्ध होगए। यह बात कुछ अंशों में ठीक भी मालूम होती है, कारण, आज़र-बाईजान के इलाके में ऊँटो का लोग बहुत मूल्य समझते हैं और जिस के पास जितने अधिक ऊँट हों, उसका उतना ही अधिक आदर-मान होता है। एक तीसरा मत यह भी है कि ज़ुराष्ट्र शब्द वास्तव में संस्कृत भाषा का शब्द है और इस का अर्थ है ऊँटोसे प्यार करने वाला। ज़ुराष्ट्रके पास बहुतसे ऊँट थे और वह उन्से बहुत प्यार करते थे, इस कारण उनका यही नाम प्रसिद्ध

होगया। इनका चौथा नाम श्वेत्यामः जो भी' है पारसियोंके अधिकांश ग्रन्थों मे पाया जाता है। इस का अर्थ है 'सफेद मुंह वाला।' यह भी ठीक जान पड़ता है, कारण, हज़रत ज़ुराष्ट्र गोरे रंगके थे, जैसे फारस निवासी साधारणतः हुआ करते हैं। अस्तु, कुछ भी हो महात्मा जरतश्त प्राय. आधी दरजन नामों से प्रसिद्ध हैं।

ज़ुराष्ट्र के पिता का नाम पोरशसफ था। उन के पांच पुत्र थे। जिनके नाम ये हैं:—र्योतिश, नवारयज्ञ, ज़ुराष्ट्र, अंकुष्ट्र और अतुष्ट्र। इस कारण ज़ुराष्ट्र उन के मंझले पुत्र थे। उनकी माता मीडिया नरेश की राजकुमारी थी। वह जन्म से ही धर्मपरायणा, कोमलचित्त, दयालु-स्वभाव और मृदुभाषिणी थी।

जब हज़रत ज़ुराष्ट्र ने जन्म लिया, तो विश्व-ब्रह्मांमण्ड के पशु-पक्षियों तक ने बधाई के गीत गाए, और जिस घर में उनका जन्म हुआ था, उसके भीतर और बाहर दसों दिशाओं मे स्वर्गीय ज्योति का ऐसा उज्ज्वल प्रकाश हुआ कि देखने वालो की आँखें चुंधिया गईं और आहरमन अर्थात् शैतान भयभीत हो, कांपता हुआ, पाताल लोक में जा छिपा। एक जगह लिखा है कि जिस समय वह उत्पन्न हुए, तब वह साधारण शिशुओं की भांति रोने की जगह खूब खिलखिला कर हँसे। यह विचित्र बात देख, जितने भी स्त्री-पुरुष वहां उपस्थित थे, आश्चर्य चकित रह गये। एक और जगह लिखा है कि जम्शेद ने शैतानो को सूचित किया कि जिस के द्वारा तुम्हारा सर्वनाश होगा, वह जन्म ग्रहण करने को है। बस फिर क्या था, शैतानो का टिड्डी-दल उन की घात में रहने

लगा। इन सब से बढ़ कर आश्चर्यजनक दन्त-कथा यह है कि जुराष्ट्र के जन्म लेने से पूर्व यजदान अर्थात् पारसियों के खुदा ने एक बैल को बोलने की शक्ति प्रदान की, और उसने मनुष्यों की सी आवाज़ में लोगों को यह बताया कि शीघ्र ही एक महात्मा जन्म लेने वाले हैं, जो पृथ्वीतल पर से पापाचार और अधर्म को दूर कर देंगे। ज्योंही यह सुना, शैतानोंको दारुण चिंता ने आ घेरा और वे यह उपाय सोचने लगे कि किस प्रकार उन्हें उत्पन्न होते ही ठिकाने लगाया जाय।

जुराष्ट्र के शिशुत्व-काल के सम्बन्ध में लिखा है कि जैसे कंस श्रीकृष्ण महाराज के लहू का प्यासा था। कि जैसे भी बन पड़े, उनकी हत्या कर डाले, उसी प्रकार फ़ारस देश का एक बादशाह जुराष्ट्र के प्राणों का भूखा था। उस ने उन्हें मरवा डालने की भरसक चेष्टा की, किन्तु उनके पिता-माता ने उस अत्याचारी, परपीड़क राजा का हाथ अपने प्राण समान अबोध पुत्र की गरदन तक नहीं पहुँचने दिया। वे उन्हें लेकर एक गुफा में चले गये और उसी जगह गुप्त रूप से उनके लालन पालन में दत्तचित्त रहे। कई वर्ष पीछे जब उन्हें बस्ती में लाए, तब यहां उन्हें श्रीकृष्ण की भान्ति कई बार कठिनतम परीक्षाओ मे सफलता प्राप्त करने का परिचय देना पड़ा।

एक बार उन्हें कई दिन के भूखे, हिंसक भेड़ियों के आगे डाला गया, जिन के बच्चे मार डाले गये थे। परन्तु भेड़ियों ने उन को छुआ तक भी नहीं वरन उन्हें अपने खोह में उठा ले गये

और उन्हें स्तन-पान कराने के लिये कहीं से एक भेड़ को भी पकड़ लाए। इसी प्रकार एक दिन उन्हें प्रज्वलित अग्नि के ढेर में डाल दिया, किन्तु यह कहना निष्प्रयोजन होगा कि उन्हें धुआं तक भी न लगा। एक बार शत्रुओं ने उन्हें एक ऐसे संकीर्ण पथ पर डाल दिया, जिधर से होकर बहुत से ढँगर-ढोर चले आ रहे थे, पर जो बैल सब के आगे आगे आ रहा था, वह उनको अपनी टांगों के बीच में लेकर उनके ऊपर खड़ा हो गया और जब तक एक एक करके सभी पशु उनके ऊपर से होकर निकल नहीं गये, वे उन के ऊपर उसी प्रकार अविचल भाव से छाया किये खड़ा रहा। इसी तरह एक दिन अनेक घोड़े इस अबोध शिशु के ऊपर होकर निकल गये, परन्तु उन का बाल भी बांका न हुआ।

हज़रत ज़ुराष्ट्र बड़े ही प्रतिभासम्पन्न, कुशाग्र बुद्धि, विद्याव्यसनी, अध्यवसायी, परिश्रमशील, साहसी और शूरवीर थे। पिता-माता ने उनकी शिक्षा-दीक्षा का विशेष भाव से ध्यान रक्खा और सुयोग्य शिक्षक उनके लिये नियत कर दिया। जरतश्त ने अल्प वय में ही इतनी धार्मिक शिक्षा प्राप्त करली थी कि बड़े-बड़े धर्मोपदेशक और उद्भट विद्वान् भी उनकी बातें सुनकर चकित रह जाते थे। जब हजरत जरतश्त ने फ़ारस के प्रचलित मत के पुजारियों से धर्म-सम्बन्धी विषयों को लेकर शास्त्रार्थ करने की ठानी और एक बार नहीं, अनेक बार उन्हें हरा कर चारों ओर अपनी धाक बिठा दी। यहां तक कि जब उन लोगों को भली भाँति ज्ञात होगया कि

उनमें जरतश्त से टक्कर लेने के लिये उपयुक्त योग्यता, ज्ञान तथा सामर्थ्य नहीं है, तब निरुपाय हो वे उनके शत्रु बन बैठे और यह विरोध रूपी अग्नि उत्तरोत्तर प्रज्वलित होती गई।

जब हजरत की आयु पंद्रह वर्ष की हुई, तब पिता ने अपनी धन सम्पत्ति अपने पांचों पुत्रों में बराबर-बराबर बांट देने का निश्चय किया। शेष चारों भाइयों ने तो अपना-अपना भाग लेना स्वीकार कर लिया, किन्तु जुराष्ट्र ने उसे ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। उन्होंने केवल पटका उठाकर अपनी कमर को बांध लिया और कहा कि यह एक प्रतिज्ञा है जो मैं इस निमित्त करता हूँ कि अपना समस्त जीवन धर्म प्रचार के पुनीत कार्य मे बिताऊंगा।

इसकेप श्चात् जुराष्ट्र अपने माता पिता, घर बार सब का परित्याग कर; और साधु का वेष धारण कर सत्य की खोज में घर से चल खड़े हुए। उनके जीवन का यह अंश कठिनाइयों तथा विपत्तियों की एक लम्बी कथा है, पर वह ऐसे साहसी वीर थे कि कठिन से कठिन विपत्तियां प्रसन्नता पूर्वक झेल लीं और कभी भी हतोत्साह वा हताश नहीं हुए। उन्हें जब कभी और जहाँ कहीं यह पता लगा कि अमुक स्थान में सत्य की प्राप्ति हो सकती है, वह वहीं जा पहुंचे। वह जहां कहीं जाते थे और जिन लोगों से भी मिलते थे, उनका बस यही एक प्रश्न होता था—"वह कौन है जो मुझे अटल, ध्रुव सत्य से साक्षात्कार कराने में समर्थ है और वह कहां है ?"

उन्हें अनेक प्रकार के अनेक कष्ट और अनेक विपत्तियाँ झेलनी पड़ी। वह कई बार ठगो के हाथो मे जा पड़े, कई बार दुष्टो के फन्दे में फसे किन्तु अन्त में उनकी मनोकामना पूर्ण हुई और उन्हे बताया गया कि यदि तुम उस व्यक्ति से भेंट करना चाहते हो जो तुम्हारा अटल, ध्रुव सत्य से साक्षात्कार करा सकता है, तब तूर के पास जाओ। हज़रत ज़ारदश्त अगणित विपत्तियां झेलते और कष्ट उठाते हुए महात्मा तूर की सेवा मे जा पहुंचे। तूर ने उनके साथ बहुत अच्छा बर्ताव किया और उन्हें सत्य और धर्म का उपदेश देने लगे।

महात्मा ज़रतश्त बड़े ही दयालु-चित्त थे। दया का भाव उनके हृदय में कूट-कूट कर भरा था। मनुष्य तो एक ओर रहे पशु पक्षियों तक का दुःख-दर्द देख कर उनका मन भरजाता था, और जब तक वह उनकी विपत्ति को दूर न कर देते, सुख पूर्वक सांस नही ले सकते थे। एक दिन आपने देखा कि एक कुत्तिया जिसके तीन-चार छोटे-छोटे पिल्ले भी थे, क्षुधा-पीड़ा के कारण बहुत बेचैन हो रही है। उनको कुतिया पर बहुत तरस आया! वह भागे-भागे गए और कुतिया के लिए कुछ खाने को लाए, पर जब आकर देखा कि कुतिया उनके आने से पहिले ही मरचुकी है, तब मानसिक क्लेश और व्यथा के कारण उनका कलेजा टूक-टूक होगया, उनके हृदयमे शोक-सागर उमड़ आया।

ज़ारतश्त ने तीन विवाह किए और गृहस्थ-जीवन व्यतीत किया। उनके पुत्रों तथा पुत्रियो के नाम पारसियों के धर्म ग्रन्थ

"अवस्था" में लिखे हैं। तीसरी पत्नी से उनके कोई सन्तान नहीं हुई, परन्तु अयज़दानी मत के अनुयाइयों का विश्वास था कि आने वाला नबी उसी से उत्पन्न होगा। दूसरी पत्नी का पुत्र अश्तोष्ट्र इस मतके पुजारियो का सरदार हुआ है। जिस समय हज़रत ज़रतश्तका देहान्त हुआ, उनकी तीनों पत्नियां जीवित थीं।

महात्मा तूर के आश्रम में कई वर्ष व्यतीत करने के पश्चात आपने संसार और उसके धधो से बिल्कुल ही मुख मोड़ लिया, वह पूरे सन्यासी हो गए, और लोगों से मिलना-जुलना और खाना-पीना बिल्कुल छोड़ दिया। वह एक पर्वत पर चले गए और एक गुफ़ा में डेरा लगा लिया, जिसमें से यह निकलते ही न थे। यहां उन्होंने बुद्ध भगवान की तरह निरन्तर कई वर्ष तक अति कठोर तपस्या—दुस्साध्य साधना—की। इस अवधि मे आपका आहार केवल थोड़े से सूखे फल, मेवे और थोड़ासा पनीर होता था। अब उनके मन में यह उमंग उठी कि संसार का भी कुछ कल्याण करना चाहिये, इस कारण कोहका परित्याग कर उन्होने तोहरान की राह ली और लोगों को धर्मोपदेश देना आरम्भ कर दिया। मार्ग में कुछ लोग उनके साथ हो लिये। एक प्रचलित दन्त-कथा के अनुसार उनके मार्ग मे एक विशाल अथाह सागर पड़ा, किन्तु ज्योंही हज़रत ज़रतश्त ने उसमें पांव डाला, उसका जल पायाब [छिछला] हो गया।

एक दिन वह समाधि की अवस्था मे ध्यान-मग्न बैठे थे, जब उन्हें इल्हाम हुआ और खुदा ने सिलान पर्वत पर उनको दर्शन

दिये। जब खुदा का साक्षात्कार हुआ, तो पहाड़ जड़ तक हिल गया और बहुत देर तक थर-थर कांपता रहा। जब हजरत जरतश्त की आयु तीस वर्ष की हुई, तब खुदा ने अपने भूमन नामक दूत को भेज कर उन्हें अपने सन्मुख बुलाया। जब वह खुदा के सामने आये तो उस ने उन्हें अपने मत के प्रचार की आज्ञा दी।

इन की आयु तीस वर्ष से अधिक तथा पैंतीस से कम थी, जब इन्होंने अपने धर्म का प्रचार करना आरम्भ किया। इनकी प्रबल आकांक्षा थी कि लोग उनकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनें, उन पर विचार करें और फिर उनके अनुसार कार्य करें। सब से पहले उन्होंने दो नास्तिकों को खुदा की उपासना करने की शिक्षा दी परन्तु उन्होंने न केवल यह कि जुराष्ट्र की शिक्षा तथा उपदेश की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया प्रत्युत उनकी बहुत खिल्ली भी उड़ाई। इस घटना का उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा, और उसके अनन्तर कुछ काल तक उन्हें किसी ईरानी के सन्मुख अपने विचार उपस्थित करने का साहस न हुआ।

अब उन्होंने तोहरान को प्रस्थान किया और तोहरान-नरेश की राज-सभा में पधारे। राजा ने उनकी बातों को बड़े ही ध्यानपूर्वक और मनोयोग के साथ सुना, परन्तु उनका शिष्य बनना स्वीकार न किया। इसके पश्चात् वह वैद वाटिस्ट नामक एक धनीमानी रईस के समीप गये और उसको अपनी शिक्षा से प्रभावान्वित करने की चेष्टा की, किन्तु यहां भी हताश होने के सिवा और कुछ हाथ न आया। उक्त रईस ने उनके प्रति अत्यन्त अनु-

चित व्यवहार किया और यदि वह भाग कर अपने प्राण न बचाते, तब सम्भवतः वह उन्हें क़ैद करके उनके प्राण हरण किये बिना न छोड़ता। वह अफ़गानिस्तान तथा बलोचिस्तान होते हुए ग़ज़नी तक गये, परन्तु कहीं भी सफलता का मुख देखना भाग्य में नहीं बदा था!

साहसी वीर जरतश्त ने अब भी जी छोटा नहीं किया और द्विगुणित उत्साह और बल के साथ सीस्तान का मार्ग पकड़ा। इस देश का बादशाह परशात् उन दिनों रोग-शय्या पर पड़ा था। उसने जरतश्त से कहा कि यदि आप मुझे स्वास्थ्य प्रदान कर सकते हैं तो कीजिये। हज़रत जरतश्त ने उत्तर दिया—"यदि मेरा शिष्य होना स्वीकार करे, तब मैं तुझे निरोग, चंगा कर सकता हूँ।" परन्तु राजा ने यह सौदा करना अस्वीकार कर दिया और हज़रत जरतश्त को असफल लौट जाना पड़ा। अब तो उन को विश्वास हो गया कि अभी मेरी साधना-तपस्या-पूरी नहीं हुई, इस लिये वह एकान्त सेवन और तपश्चर्या के लिये पुनर्वार बन में लौट गये।

पुनः पुनः हताश होते रहने के कारण जरतश्त के मन पर जो प्रभाव पड़ा था, उस को दूर करने के लिए आहुरमुज्द ने उन्हें अभिनव इलहाम दिये। उन्होंने छः बार आकाश की यात्रा की। अंतिम यात्रा में आहुरमुज्द ने उन्हें "अवस्था" नामक पुस्तक प्रदान की और उन्हें प्रोत्साहित करके कहा कि जाओ, अब तुम्हारे मत का खूब प्रचार होगा। वह उक्त ग्रन्थ लेकर चले, तो

शैतानो ने अपने पूर्ण बल तथा शक्ति का प्रयोग करके उन पर आक्रमण किया और उनकी जीवन-लीला का अन्त कर डालने का प्रयत्न किया, परन्तु ईश्वर को कुछ और ही भाता था। महात्मा जरतश्त ने अब नवीन उत्साह और नये जोश से अपने धर्म के प्रचार का कार्य आरम्भ किया। उन्हे नाना प्रकार के प्रलोभन और कष्ट दिये गये, किन्तु इस महान आत्माने उनकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उन्होने अपना सङ्कल्प त्याग करना सर्वथा अनुचित जाना, वह धर्म मार्ग, तथा सत्य पथ से जौ बराबर भी विचलित नहीं हुए, प्रत्युत् वीरोचित साहस के साथ यही कहा कि चाहे मेरी देह मिट्टी में मिल जाय, परन्तु मैं उस मत को जो खुदा की ओर से है कभी नहीं छोड़ूंगा

नवीन आशाओं और द्विगुणित उत्साह के साथ धर्म-शिक्षा देते हुए जरतश्त को दो वर्ष व्यतीत हो गए, परन्तु कुछ भी फल न निकला। उन्होने अपने विचार सहस्रों पुरुषों तथा स्त्रियों के सन्मुख उपस्थित किये, परन्तु उन लोगों में से एक ने भी उनका शिष्य बनना स्वीकार न किया। अन्त को दो वर्ष के कठिन परिश्रम तथा निरन्तर अध्यवसाय के पश्चात् वह अपने चाचा के पुत्र त्योमाह को अपना शिष्य बनाने में सफल हुए। वह एक बड़ा ही प्रभावशाली गण्य-मान्य व्यक्ति था और राजसभा में भी उस का बड़ा आदर-मान था। वह बड़ा मनचला आदमी था, इस कारण किसी का भी इतना साहस नहीं होता था कि उसकी उपस्थिति में जरतश्त के मत वा शिक्षा की निन्दा करे। त्योमाह

के शिष्य होने की देर थी, कि अन्यान्य लोगों ने भी जरतश्त की शिक्षा के सन्मुख शीष झुकाना आरम्भ कर दिया। अभी उपरोक्त घटना को घटे पूरा एक वर्ष भी व्यतीत नहीं होने पाया था कि उनके शिष्यों की संख्या बढ़ते-बढ़ते सहस्रों तक पहुँच गई।

अब उन्होंने फिर अपनी जन्म-भूमि की ओर प्रस्थान किया और शाह गश्ताशप की राज-सभा में पहुँच कर उसे अपना शिष्य बनाने की चेष्टा की। फारस तथा उस के चारों ओर दूर दूर तक जुराष्ट्र की धाक पहले ही बैठ चुकी थी। उनके व्याख्यान युक्ति-युक्त, चित्ताकर्षक, ओजस्विता-पूर्ण तथा प्रभावोत्पादक होते थे। जब शाह गश्ताशप के सभासदों और सरदारों को यह पता चला कि वह किस उद्देश्य को लेकर यहाँ आये हैं, तब वे लोग बहुत सटपटाए और तन-मन-प्राण से इस चेष्टा में लग गये कि किसी प्रकार उन दोनो की परस्पर भेंट ही न होने पाये। इसके लिये उन्होंने अनेक छल-कपट किये, बादशाह को बहकाया, जुराष्ट्र को डरया, किन्तु सफल-मनोरथ होना उनके भाग्य में ही नहीं बदा था। कहते हैं कि शाह के उद्धत और दुष्ट दरबारियो ने राज-प्रासाद में प्रवेश करने के सभी मार्ग बन्द कर दिये, यहां तक कि महात्मा जरतश्त महल की छत फाड़ कर उस के सन्मुख उपस्थित होने पर विवश हुए।

उक्त शाह ने जुराष्ट्र की बातों को बड़े ही ध्यान और मनोयोग पूर्वक सुना और अपने सरदारो को उनके साथ शास्त्रार्थ करने

के लिये कहा। उनमें जरतश्त की अकाट्य युक्तियों को काटने और उनके साथ शास्त्रार्थ करने की शक्ति वा सामर्थ्य तो कहां थी, हां, अपनी ऊट-पटांग और निरर्थक बातों से महात्मा को हतोत्साह और परास्त करना चाहा, परन्तु यह सब निष्फल हुआ। जरतश्त ने उन्हें हरा के छोड़ा। अब उन लोगों ने छल-कपट करके जरतश्त को अपने फंदे में फंसाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अनेक कुत्तों, बिल्लियों, चूहों और ऊँटों के सिर, नेत्र, नाक, कान इत्यादि अप्रकट रूप से जरतश्त के निवास-स्थान पर रखवा दिये और शाह को बहकाया कि जरतश्त मायावी है और माया के बल से लोगों पर विजय प्राप्त करता है

अब क्या था ? तुरन्त उन्हें पकड़वा कर कारागार की काल कोठरी में डाल दिया गया। ईश्वर की करनी ! इधर जरतश्त को कारागार में बंद किया गया, उधर बादशाह का एक बहुमूल्य काला घोड़ा जो उसको प्राण समान प्रिय था, एक भयंकर रोग में ग्रस्त हो गया। उसकी चारों टांगें सिमट-सुकड़ कर उसके पेट में जा लगीं। वह चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने में असमर्थ हो गया यहां तक कि उसके लिये हिलना-डुलना भी दूभर हो गया। बादशाह ने बहुतेरी चिकित्सा कराई, बहुसंख्य धन-द्रव्य लुटाया, आकाश के तारे तोड़ देखे, परन्तु घोड़े की दशा में जौ भर भी अन्तर न पड़ा। उसका रोग दूर होना तो बहुत दूर की बात है, उसकी दशा क्षण-क्षण बिगड़ती ही गई। बादशाह के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि हो न हो यह जुरोष्ट्र के

अभिशाप का ही शोचनीय परिणाम है, इसलिए उसने उनको तुरन्त छोड़ दिए जाने की आज्ञा दे दी और सन्मान सहित अपने सम्मुख बुलाकर उनसे घोड़े को आरोग्य प्रदान करने की प्रार्थना की।

महात्मा जरतश्त ने उत्तर दिया कि मैं आपके घोड़े को सर्वथा नीरोग कर दूंगा, यदि आप मेरी चार शर्तें स्वीकार करलें। वे चार शर्तें यह थीं कि यदि घोड़े की एक टांग अच्छी हो जाय; तब बादशाह यजदानी मत का अनुयायी होना स्वीकार करले; जब दूसरी टांग अच्छी हो जाय, तब बादशाह का पुत्र असफंदयार उक्त मत की पुष्टि तथा सहायता के लिए धार्मिक युद्ध में प्रवृत्त हो; यदि तीसरी टांग अच्छी हो जाय, तब महाराणी भी जरतश्त के मत में दीक्षित हो जायँ और जब चौथी टांग भी अच्छी हो जाय, तब उन लोगों को उचित दण्ड दिया जाय, जिन्होंने बादशाह को जरतश्त के विरुद्ध बहकाया था। परमात्मा की लीला अपरम्पार है। बादशाह एक एक शर्त स्वीकार करता जाता था और घोड़े की एक-एक टांग अच्छी होती जाती थी!

शाह ने यजदानी मत स्वीकार कर लिया, परन्तु उसके मन में जो शङ्काएँ थीं, उनका पूर्ण रूप से समाधान न हो सका, इस कारण उसने जरतश्त से अनेक प्रश्न किये। "जरतश्त नामा" में लिखा है कि शाह ने जुराष्ट्र से कहा कि "जैसे मुझ से चार शर्तें स्वीकार कराई गई हैं वैसे ही मुझको भी चार वस्तुएँ प्रदान की जायें। पहली यह कि स्वर्ग में मेरे लिये जो स्थान नियत है, वह मुझे दिखाया जाय; दूसरे मेरा शरीर अजेय हो जाय; तीसरे मुझे

विश्व-ब्रह्माण्ड का सर्व प्रकार का समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाय और चौथे यह कि मैं अमर हो जाऊँ।"

इस पर हज़रत ज़ुराष्ट्र ने उत्तर दिया कि ये चारों वस्तुएँ अकेले आपको प्रदान नहीं की जा सकतीं बल्कि आप इन में से केवल एक अपने लिये मांग सकते हैं, शेष तीनो वस्तुएँ आपके इष्ट जनों को प्रदान की जायँगी। शाह ने उनकी बात स्वीकार कर ली और अपने लिये स्वर्ग पाने की कामना की। उसी क्षण स्वर्ग से फ़रिश्तों की घुड़दौड़ आरम्भ हो गई। किसी ने शाह को स्वर्ग की अपूर्व शोभा दिखाई, किसी ने उसके पुत्र को अमृतपान कराया, किसी ने उनके मन्त्री जामास्प को एक ऐसी सुगन्धित वस्तु सुंघाई, जिससे वह सभी प्रकाश्य तथा अप्रकाश्य विद्याओं का ज्ञाता हो गया। इस प्रकार गश्ताशप की चारो इच्छाएँ पूरी कर दी गई। शाह के साथ ही उसके मन्त्रियों तथा सरदारो ने भी ज़ुराष्ट्र के चरणो में शीष नवाया और उनके अनुयायी हो गये। यह देख ज़ारतश्त को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब मेरे मत का भूमण्डल के अन्यान्य भागो मे भी यथेष्ठ प्रचार हुए बिना न रहेगा। उस समय उनकी आयु चालीस वर्ष की थी।

शाह गश्ताशप के यज़दानी धर्म में दीक्षित होते ही हज़रत ज़ारतश्त तथा उन के मत की ख्याति चारों ओर फैल गई और उन्होने उन सभी देशों मे अपने प्रचारक भेजे, जहां स्वयं उन्हे भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। सीस्तान इत्यादि कई देशों के राजाओ ने यज़दानी मत को स्वीकार कर लिया, और थोड़े ही

वर्षों में इस धर्म के अनुयायियों की संख्या लाखों तक पहुँच गई। शाहजादा अस्फन्दयार प्रतिज्ञा कर चुका था कि वह इस धर्म के प्रचार मे यथा-साध्य सहायता प्रदान करेगा, इसलिये उस ने अपनी तलवार की मूठ पर हाथ धरा और जिन लोगो ने प्रेम तथा स्वेच्छा-पूर्वक इस धर्म में प्रविष्ट होना स्वीकार न किया, उन्हें तलवार का भय दिखा कर सम्मिलित किया गया।

शाह गश्ताशप के प्रधान मन्त्री जामास्प तथा सचिव फ्राशोष्ट ने यज़दानी धर्म के प्रचार में हज़रत जरतश्त को यथेष्ट सहायता प्रदान की। कहते हैं, धर्म-ग्रन्थ "अवस्था" का एक बहुत बड़ा भाग तथा "ज़ेंद" भी इन्हीं दोनों ने लिखी थी। हज़रत ज़ुराष्ट्र लिखवाते जाते थे और वे दोनों लिखते जाते थे। दूर-दूर से धर्मोपदेशक तथा विद्वान लोग ज़ुराष्ट्र के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये आने लगे, परन्तु जो कोई उनके मन में दोष या छिद्र दिखाने के लिये आता, अन्त में वह आप ही उनका भक्त और अनुयायी हो कर जाता था।

कहते हैं कि भारतवर्ष के एक विद्या-वयो-वृद्ध ऋषि ने जिस की योग्यता तथा ज्ञान की धाक एक मात्र हिन्दुस्तान ही में नहीं, वरन संसार के अनेक देशों में बैठी हुई थी और जिस की यशसुरभि से फ़ारस देश भी सुरभित था। वह प्रधान मन्त्री जामास्प का गुरु था, शाह गश्ताशप को इस आशय का एक पत्र लिखा कि आपको तथा जामास्प को चाहिये कि इस नवीन मत को छोड़ दें। बादशाह ने उसको फ़ारस में आकर ज़ुराष्ट्र के साथ

शास्त्रार्थ करने का निमन्त्रण दिया। वह ऋषि अपने बहुसंख्य शिष्यों सहित बलख़ तक आ पहुँचा!

उसकी उत्कट अभिलाषा थी कि ज़ुराष्ट्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर के छोड़े, किन्तु जो-जो प्रश्न वह बूढ़ा ऋषि अपने मन में सोच कर आया था, वे सभी ज़रतश्त ने उस के पूछे बिना ही बतला दिये। वह ऋषि उनकी योग्यता का लोहा मान गया, और विद्वानों की भरी सभा में उसने मुक्त कण्ठ से अपनी हार मानली। उस के प्रार्थना करने पर उस को एक प्रति "अवस्था" की प्रदान की गई। उस ने यज़दानी धर्म के प्रचार तथा प्रसार में इतना परिश्रम और अध्यवसाय किया कि सुनते हैं, भारत देश में अस्सी हज़ार पुरुषों तथा स्त्रियों ने यज़दानी धर्म स्वीकार कर लिया।

भारत की तरह यूनान के भी एक से अधिक विद्वान आकर ज़ुराष्ट्र से मिले और शास्त्रार्थ में हार कर उनके धर्म में प्रविष्ट हो गये। कहते हैं, ग्रीस देश के अद्वितीय विद्वान् और तत्ववेत्ता फ़यातूस ने भी इसी तरह यज़दानी मत स्वीकार किया था। ज़ुराष्ट्र के जीवनकाल में ही यह धर्म फ़ारस की सीमाओं को उल्लङ्घन करके अन्यान्य देशों में भी जा फैला था। भारत, रूम इत्यादि अनेक देशों से भी "अवस्था" की प्रतियां मँगवाई गईं थीं।

ज़ुराष्ट्र को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि तोहरान देश का अधिपति अर्जासप अभी तक यज़दानी मत के झण्डे तले नहीं आया। उन्होंने अनेक उपायों का अवलम्बन किया, भरसक चेष्टा की कि वह उनके द्वारा प्रचलित तथा प्रचारित मत को स्वीकार

कर ले। किन्तु जब किसी प्रकार भी सफलता का मुख देखना नसीब न हुआ, तब उन्होंने फारस-नरेश द्वारा उसके पास यह संदेश भेजा कि आप उक्त मत को स्वीकार कर लें। अर्जास्प ने इस को अपना घोर अपमान जाना और उत्तर में उसने न केवल अपनी ही ओर से अस्वीकृति लिख भेजी, प्रत्युत् शाह् गश्ताशप को भी कहा कि तुम भी इस धर्म का परित्याग कर दो। सम्भव है गश्ताशप डर जाता और धर्म के विमुख हो जाता और जुराष्ट्र ने उस को जो शिक्षा प्रदान की थी, उस से मुँह मोड़ बैठता, किन्तु जुराष्ट्र ने गश्ताशप से कहा कि यह शैतान की करतूत है, तुम्हारा कर्तव्य है कि धर्म-रक्षार्थ शस्त्र धारण कर शत्रु का सिर कुचल डालो।

परिणाम यह हुआ कि शाह् गश्ताशप ने शाह् अरजा के ही दूत द्वारा युद्ध का संदेश (अल्टीमेटम्) भेज दिया। तोहरान अधिपति ने अविलम्ब फारस पर चढ़ाई करदी। इधर से गश्ताशप भी अपनी सेना लेकर समर-क्षेत्र में निकला। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। दोनों पक्षों के अगणित शूरवीर सैनिक वीर-गति को प्राप्त हो गए। किन्तु अरजा को न विजय प्राप्त होनी थी और न हुई। अन्त में उसने बहुत बुरी तरह हार खाई और भाग निकला। यह शाह् गश्ताशप के लिए एक अमूल्य अवसर था। जो वह चाहता तो अरजा को मटियामेट कर डालता, परन्तु उसने विजित वैरी का पीछा करना सर्वथा अनुचित तथा अन्याय-युक्त जाना।

तोहरान के बादशाह के लिये यही एक बात कुछ थोड़ी दुःख-दाई नहीं थी कि जुराष्ट्र-प्रचारित धर्म दिन दूने रात चौगुने वेग के साथ फैलता जाता था। इस अप्रत्याशित हार ने उसके घाव पर नमक का काम किया उसका आराम-चैन सब दूर हो गया, सुख-दुःख में परिणत हो गया। वह चाहता था कि जैसे बने, फारस पर चढ़ाई करके न केवल शाह गश्ताशप को ही ठीक ठिकाने लगाए, वरन् जरतश्त को भी उपयुक्त शिक्षा दे। वह कई वर्ष तक धैर्य की कड़वी घूँट पिये चुप चाप बैठा रहा, अपना बल बढ़ाता और सेना को सुशिक्षित करता रहा तथा उचित अवसर के आने की प्रतीक्षा करता रहा। इसी बीच मे एक दिन उसे पता चला कि ईरान-नरेश अपनी राजधानी से बाहर गया हुआ है और पुरुष-सिंह अस्फन्दयार एक पहाडी दुर्ग की काल-कोठरी में बन्द-जीवन व्यतीत कर रहा है।

अस्फन्दयार के एक भाई ने किसी कारण उससे अप्रसन्न हो कर पिता से झूठी चुगली खाई थी और शाह गश्ताशप ने क्रोध के वशीभूत हो उसके हाथो में हथकड़ियाँ और पैरों में भारी बेड़ियाँ डलवा कर कारागार में बन्द करा दिया था।

बिल्ली के भागों छीका टूटा! इस अवसर को शाह अर्जासप ने अपने लिये अमूल्य जाना और झट अपनी बहुसंख्य, सुसज्जित तथा सुशिक्षित् सेना ले फारस पर चढ आया। आते ही उस ने बलख नगर को घेर लिया। कई दिन तक घोर सग्राम होता रहा अन्त में उसने नगर को सर कर लिया। नगर पर ज्योंही उसका

अधिकार हुआ, उसने आज्ञा दे दी कि जो आगे आये, तलवार के घाट उतार डाला जाय और आतिशकदों * को यज़दानी धर्म के अनुयायियो के लहूसे ठण्डा किया जाय। अर्जासप के क्रोध का उस समय कुछ भी ठिकाना नहीं था। जो कोई सामने आता, वह निःशङ्क भाव से उसी का वध कर डालता था। इस धर्म के बड़े-बड़े पुजारी अत्यन्त निर्दयतापूर्वक मार डाले गये और सहस्रों निरापराध पारसी गाजर-मूलियों की तरह तलवार के घाट उतार दिये गये, यहाँ तक कि स्त्रियों और बालको की हत्या कर डालने में भी उन पाषाण-हृदय तोहरानियो को तनिक भी संकोच नहीं हुआ।

हज़रत ज़ुराष्ट्र की आयु उस समय ७७ वर्ष की थी। वृद्धावस्था थी, दुर्बलता ने बहुत बुरी तरह आ घेरा था। अब उनमें इतनी सामर्थ्य-शक्ति भी नहीं रह गई थी जो धर्म-रक्षार्थ शस्त्र धारण कर शत्रु से लड़-भिड़ सकें, तथापि वह अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करते रहे और उन्हें धर्म की वेदि पर प्राणो की बलि चढ़ा देने के लिये तैयार किया। उन्हें आशा थी कि तोहरान-नरेश पहले ही की भाँति इस बार भी परास्त हो भाग खड़ा होगा परन्तु जब राजधानी पर उसका पूर्ण रूप से अधिकार हो गया और तोहरानी घोड़ों के खुरो ने नगर के बाजारों की मिट्टी उखेड़ डाली, तब तो उनकी आशा निराशा में परिणत हो गई और

* अतिशकदा—अग्नि की पूजा करने वालों अथवा पारसियों का मन्दिर।

उन्हें यह समझते देर न लगी कि अब मरने के सिवा और कोई गति, कोई उपाय नहीं है। वह एक धर्म-मन्दिर में चले गये, परन्तु अर्जासप के नृशंस सैनिकों ने उन्हें वहां से इस प्रकार खोज निकला, जैसे शिकारी कुत्ते सर्वथा निर्दोष किन्तु दुर्बल शशे को झाड़ी में से ढूँढ निकाला करते हैं। अर्जासप ने घृणासूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा और आज्ञा दी, इसी क्षण इस को यमपुर पठा दो। आज्ञा के साथ ही हत्यारों ने उनका सिर धड़ से अलग कर दिया! यह घटना ईसा मसीह से ५७३ वर्ष पहिले की है।

हजरत जुराष्ट्र ने अपने जीवन-काल में अनेक शुभ कार्य किये। उन्होंने लोगों को नास्तिकता के कीचड़ में धँसने से बचाया और उस सृष्टि-कर्ता की उपासना और पूजा में लगाया। उन्होंने मनुष्यों को परस्पर प्रेम करना सिखलाया और निरन्तर वर्षों तक अपने उपदेशामृत से सत्यार्थियों को लाभ पहुँचाते रहे। उन्होंने जिस ग्रन्थ को इलहामी पुस्तक के रूप में अपने अनुयायियों के सन्मुख उपस्थित किया है अर्थात् "जॅद-अवस्था", वह कोई बहुत बड़ी पुस्तक नहीं है, वरन आकार तथा पृष्ठ संख्या के विचार से उसे सबसे छोटा धर्म-ग्रन्थ समझा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। इस में जो उपदेश तथा शिक्षाएँ दी गई हैं वे भी साधारण ही हैं, किन्तु यजदानी धर्म के अनुयायियों के हृदयों में इस के प्रति बड़ी ही श्रद्धा तथा आदर पाया जाता है और लाखों पारसी नित्यप्रति नियमपूर्वक इसका पाठ करते हैं। यजदानी मत चिरकाल तक फ़ारस का राष्ट्रीय धर्म रहा है।

हज़रत ज़रतश्त के आवश्यक आदेश निम्नलिखित हैं:—

१—"तू ख़ुदा को प्यार करेगा।"

२—"तू नित्यप्रति अपने कर्ता-धर्ता के सन्मुख शीष नवाएगा और अपनी सन्तान को भी ऐसा करने की शिक्षा देगा।"

३—"तू अपने जीवन-प्रदाता तथा उपास्य देवता से उतर कर अपने पिता से प्यार करेगा और उसकी आज्ञाओं का पालन करेगा और अपनी माता का आदर तथा सन्मान करेगा, कारण, ख़ुदा की इच्छा से उसने तुझको जन्म दिया है।"

४—"तू वह वस्तु नहीं लेगा, जो तेरी नहीं है।"

५—"तू गर्व—घमण्ड—नहीं करेगा क्योंकि संसार में कुछ भी तेरा नहीं है।"

६—"तू वह बात मुख से नहीं निकालेगा जो सत्य नहीं है।"

७—"तू अपने पड़ोसी के पीठ पीछे भी उसकी निन्दा नहीं करेगा, कारण, ख़ुदा सुनता है और उस के फ़रिश्ते (देवदूत) आकर तेरे पड़ोसी की आत्मा को बता देंगे कि तूने उस के विषय में क्या कुछ कहा है।"

८—"तू आलसी अथवा अकर्मण्य नहीं बनेगा, नहीं तो तेरी शारीरिक शक्तियों के ह्रास के साथ ही तेरी आत्मा भी दुर्बल पड़ जायेगी।"

९—"तू ईर्षा नहीं करेगा और न किसी पुरुष, स्त्री अथवा बालक के प्रति हिंसा, द्वेष वा डाह के भाव को ही अपने मन में स्थान देगा।"

१०-"तू अपने पुत्र की ताडना करेगा और उसको सन्मार्ग पर चलना सिखाएगा।"

११-"तू अपने पडोसी से उस की अपेक्षा अधिक लेने की इच्छा नहीं करेगा, जितना तू उसको देता है।"

१२-"तू रोजे (उपवास-व्रत) के दिन शुद्ध-पवित्र रहेगा।"

१३-"तू अपने ही गोत्र की स्त्री के साथ विवाह नही करेगा, हां, पाँचवी पीढ़ी के बाद ऐसा करने में कुछ भी हानि नहीं है।"

महात्मा ज़रतश्त की शिक्षा।

ज़रतश्त की शिक्षा का सारांश बस यही है:—"उत्तम विचार, अच्छी बातें और शुभ कर्म।" उन्होंने कहा है कि बस ये ही स्वर्ग की सीढियां हैं और ये ही अमरपुरी के फाटक के ताले की चाबियां। जो व्यक्ति मृत्यु पर्यन्त यथासाध्य शुभ विचारों, उत्तम सङ्कल्पों को मन में स्थान देता है, श्रेष्ठ शब्द मुख से निकालता और शुभ कर्म करता है और जहां तक बन पड़े, मनुष्य-मात्र के कल्याण और हित-साधन तथा सेवा में तत्पर रहता है, वह निश्चय ही अपरिसीम पुण्य सञ्चित करता, स्वर्ग पाने का अधिकारी होता और खुदा तथा उस के जीवों की दृष्टि में प्रशंसनीय और प्रिय ठहरता है।"

महात्मा ज़रतश्त उपदेश देते हैं:—"यदि मनुष्य यह कामना करे कि उस के मन में शुभ सङ्कल्प, उत्तम विचार उत्पन्न हों, तब उस को चाहिये कि अपने कर्त्ता-धर्त्ता और स्वामी का ध्यान करे

और परमात्मा की सारी सृष्टि, विशेषतः मनुष्य-जाति के साथ प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करे, आवश्यकता आ पड़ने पर दूसरों की यथेष्ट सहायता प्रदान करे, उन्हें सुशिक्षित बनाने और उनका आचरण और दशा सुधारने के लिये उपयुक्त शिक्षा-दान का समुचित प्रबन्ध करे और जो लोग उसके चारों ओर रहते हैं, सब प्रकार से और सभी उचित उपायों के द्वारा उन के कल्याण-साधन में तत्पर रहे; उनकी उन्नति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहे; सब को अपना भाई जाने और सब को प्यार करे।

"शुभ वचनों का तात्पर्य यह है कि हम कभी झूठ न बोले जो बात एक बार मुख से निकाले, उसे पूरा किये बिना न रहे, कभी किसी को गाली न दे, न किसी की निन्दा करें और न कोई ऐसी बात मुख से निकाले, जिस से किसी के हृदय-पट पर चोट लगे प्रत्युत् मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि लड़ाई-झगड़ा, द्वेश-ईर्षा, प्रतिहिंसा, घृणा, डाह इत्यादि की जगह अपने मन मे प्रेम और शुभ विचारो को स्थान दें।"

उन्होंने ने प्रेम और परस्पर स्नेह पर बहुत ज़ोर दिया है।

हज़रत ज़ुराष्ट्र के मतानुसार शुभ कर्म वे हैं जिन के द्वारा निज हित साधन के साथ साथ दूसरो को भी लाभ पहुँचे, उन से किसी का अहित न हो। उनका आदेश है:—

"प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने से निर्धन भाइयों को यथेष्ट सहायता प्रदान करे और उन की प्रत्येक प्रकार की

उचित तथा न्यायसङ्गत आवश्यकताओं को पूरा करे, चाहे कोई उस सहायता का पात्र हो अथवा न हो। जो धन किसी के पास फ़ालतू बच रहे तो उस को जनता के कल्याण के पुनीत कार्य में व्यय करना चाहिये। भूमि को केवल अपने ही लाभ अथवा पेट पालने के लिये ही सींचना अथवा जोतना-बोना नहीं चाहिये वरन मनुष्य मात्र के लाभके लिये ऐसा करना उचित है।"

"जब कर्मों का लेखा होगा, उस समय मैं किसी की भी कुछ सहायता नहीं कर सकूंगा। तब अपने ही किये हुए शुभ कर्म आड़े आयेंगे। जो जैसा कर्म करता है उसको वैसा ही फल मिलता है, इसलिये सब को पवित्र और धर्मपरायणता का जीवन व्यतीत करना चाहिये।"

महात्मा ज़रतश्त का कहना है कि अग्नि सब को शुद्ध और निर्मल बना देती है, यही कारण है कि इसको पवित्रता का चिह्न माना गया है। जीवन का लक्षण भी यही अग्नि वा गर्मी है, इसी लिये ज़रतश्त के अनुयायी अग्नि की पूजा करते हैं और अपने अपने घरों में आग को कभी नहीं बुझने देते।

पत्नी के लिये आदेश है कि वह सच्चरित्रा, पतिपरायणा और पति की आज्ञानुवर्तिनी हो और पति के लिये आदेश है कि वह पत्नी को अपने बराबर जाने, उसको उपयुक्त स्वतन्त्रता प्रदान करे और उस के साथ किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार न करे।

पिता-माता के लिये आदेश है कि वे सन्तान के लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा में अधिक से अधिक ध्यान तथा प्रयत्न से काम

लें, केवल इस लिये नहीं कि उस के द्वारा उन के वंश की ख्याति और कुल का गौरव बढ़ेगा, और उनको लाभ पहुँचेगा प्रत्युत् समग्र जाति के लाभ को दृष्टि-पथ में रखना चाहिये। बालक-बालिकाओं की धार्मिक तथा लौकिक शिक्षा के लिये सब प्रकार से प्रयत्नशील रहना चाहिये जिससे वे शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आत्मिक उन्नति करें और धर्मपरायणता, सत्याचरण, परिश्रम और अध्यवसायशीलता पूर्वक जीवन की दौड़ मे अच्छी तरह दौड़ने के योग्य हो सकें और समर्थ हो सब को यथेष्ट लाभ पहुँचा सके।

दयानिधि सृष्टि-कर्त्ता की दया अपरिसीम है। मनुष्य को चाहिये कि उस की ओर से कभी निराश न हो।

[६]

हज़रत मुहम्मद साहब।

अब से तेरह चौदह सौ वर्ष पूर्व अरब देश तथा उस के निवासियो की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। मूर्ति-पूजा का प्रचार देश-व्यापी था। लोग मद्य पान करते, जुआ खेलते, छोटी-छोटी बातों पर लड़ पड़ते, कन्याओ के जन्म लेते ही उन का गला घोट कर मार डालते, स्त्री जाति के प्रति घोर अन्याय-पूर्ण वर्त्ताव और खुदा और उस की आज्ञाओं से विमुख हो रात-दिन भोग-विलास मे रत रहते। न उनका कोई दीन था, न परलोक (आक़बत) का भय था, न लोक लाज थी, कारण, सब की दशा एक समान थी। इन समस्त दोपो के होते हुए कुछेक श्लाघनीय गुण भी उन मे थे, जैसे शूरवीरता अतिथि-सत्कार, दान-शीलता, शरणागतों की रक्षा, इत्यादि।

१२ रबी अव्वल (२० एप्रिल सन् ५७१ ई०) को सोमवार के दिन, प्रातः काल, खुदा ने अपने बदों की भलाई और उन्हें सुपथ दिखाने के लिये हज़रत मुहम्मद को इस ससार में भेजा। आप का जन्म क़ुरैश कुल मे हुआ था। काबा शरीफ़ (खुदा के घर) की कुंजियाँ इस कुल वालों के पास रहती थी। आप अपने माता पिता के एकलौते पुत्र थे, न कोई और भाई था न बहन। मक्का मे दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था। महामारी का प्रकोप था। आप के जन्म लेते ही वर्षा

हुई और अकाल और महामारी दोनों दूर हो गये। जन्म ग्रहण करने से कुछ दिन पहिले पिता अब्दुल्ला का स्वर्गवास हो चुका था। माता बीबी आमना भी कुछ काल पीछे संसार से चल बसीं। आपके बाबा अब्दुल मत्तिब ने और उनके देहान्त के उपरान्त आपके चाचा अबु तालिब ने आपके पालन-पोषण का भार अपने सिर पर लिया। छः वर्ष तक आप अपनी दूध पिलाने वाली माता बीबी हलीमा के पास रहे, फिर अपने घर पर आगये।

बाल्यावस्था में आप वन में बकरियां चराने जाया करते थे। जब युवा अवस्था को प्राप्त हुए, तो वाणिज्य-व्यापार आरम्भ कर दिया। आपकी ईमानदारी की प्रशंसा सुनी, तो बीबी खदीजा ने बहुत सा माल व्यापार के लिये देकर आपको शाम देश की ओर भेजा। आप ने माल बेच कर खूब लाभ उठाया, और घर पहुँच कौड़ी-कौड़ी का लेखा दे दिया। बीबी खदीजा विधवा थीं, आपकी सत्यप्रियता, योग्यता, परिश्रम और अध्यवसाय देख बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट हुईं, और उन के साथ निकाह करने की इच्छा प्रकट की। इन के चाचा अबूतालिब ने हर्षपूर्वक इन दोनों का विवाह कर दिया। उस समय आप की आयु २५ वर्ष और खदीजा की आयु ४० वर्ष की थी।

हजरत खदीजा बड़ी ही सुशीला रमणी थीं। हजरत मुहम्मद की खूब मन लगाकर सेवा करती थीं। आप को भी उन में बहुत प्रेम था। जब बीबी खदीजा स्वर्ग सिधारीं, तो आप के दुःख-शोक का पारावार न रहा। आप कहा करते थे कि जब मैं

कङ्गाल था, उस ने मेरे साथ निकाह करके मुझ को धनाढ्य बना दिया, जब लोग मुझे झुठलाते, वह मुझे सच्चा जानती, और जब सारा अरब देश मेरे विरुद्ध खड़ा हो गया, उस ने मेरा साथ दिया। इन से चार पुत्रियां, रक़िया, जैनब, फ़ातिमा तथा उम्म कलसूम, और दो पुत्र, इब्राहीम और क़ासिम हुए। इस निकाह के अतिरिक्त मुहम्मद साहब ने और भी कई विवाह किए।

जब मुहम्मद साहब का निकाह हुआ तो बीबी ख़दीजा ने अपने क्रीत दास जैद को उन की सेवा के लिये अर्पण किया। आप को इस दास पर बहुत तरस आया उसे बहुत अच्छी तरह रक्खा। इस बालक को भी आप से ऐसा स्नेह हो गया कि जब उस का पिता वहां आया, और रुपया भर कर अपने पुत्र को लौटा लेजाना चाहा, तब आपने कहा—"यह परतन्त्र नहीं है। इसकी इच्छा है, चाहे यहां रहे, चाहे आप के साथ घर चला जाय।" किन्तु आप के प्रेम के कारण अपने पिता के साथ घर जाना उस बालक को किसी प्रकार भी ग्राह्य न हुआ। उसने आजीवन हज़रत मुहम्मद का साथ नहीं छोड़ा।

जब आप की अवस्था २५ वर्ष की हुई, उन दिनों काबा की छत मे आग लग गई और वह गिर पड़ी। इस कारण उस को नये सिर से बनाया गया। अरब देश के सभी घराने इस धर्म-कार्य मे सम्मिलित हुए। जब पवित्र काले पत्थर (सगे असवद) के जड़ने का अवसर उपस्थित हुआ, तो परस्पर झगड़ा हो गया। कारण, प्रत्येक घराने वाला यही चाहता था कि यह पुण्यकार्य

मेरे ही हाथो सम्पन्न हो। अन्त को यह निश्चय हुआ कि कल सवेरे काबा की चार दीवारी मे जो कोई सबसे पहले प्रवेश करेगा, पवित्र पत्थर के यथास्थान धरने का सेवा-कार्य उसी को सौंपा जायगा। भगवान् की लीला! अगली सुबह मुहम्मद साहब ही सब से पहले वहां पहुंचे, किन्तु आप की यह इच्छा थी कि काम भी ठीक हो और लोग भी सब के सब सन्तुष्ट रहें। इस लिये आपने एक सुदृढ़ चादर बिछा कर उस पर संगे असवद रक्खा, और चादर के सिरे प्रत्येक घराने के एक एक बड़े सरदार के हाथ में देकर उसे उठवा दिया। फिर आपने उसे अपने हाथो से उठाकर यथास्थान जड़ दिया।

हज़रत मुहम्मद को अपने देश-बन्धुओ की दयनीय दशा देख बहुत दुःख होता था, आप रात दिन उनकी भलाई की चिन्ता मे व्यस्त रहते थे। प्रायः घबरा कर बन मे चले जाया करते थे। आप मक्का के बाहर एक खोह मे जिसे "हरा" कहते हैं, दिन-दिन भर इसी चिन्ता मे डूबे रहते। इतने मे आप की आयु चालीस वर्ष की हो गई। एक दिन आप इसी खोह मे बैठे थे कि आपने कुछ डरावनी आवाजें सुनी। इस के बाद ऐसा जान पड़ा, मानो कोई पुकार रहा है और कहता है कि पढ़! आप बोले—"मैं तो पढ़ा नही हूं।" तब कहा—"पढ़, अपने रबके नाम से पढ़, जिसने उत्पन्न किया है, और जमे हुए लहू से मनुष्य को बनाया, जो बड़ा ही दयालु और कृपालु है, जिस ने लेखनी द्वारा विद्या प्रदान की, मनुष्य को वे बाते सिखाई जो वह जानता न था।" खुदा

का यह कलाम (भाषण) हज़रत जिब्राईल ने आपको पढ़कर सुनाया।

इसके पश्चात् आप बड़ी घबराहट और व्याकुलता की दशा में घर आये और समस्त वृत्तान्त ख़दीजा बीबी को सुनाया। उन्होंने कहा—"निस्संदेह आप ख़ुदा के पैगम्बर हैं, मैं आप के ऊपर ईमान लाती हूँ।" आप ही वह महिला थीं जो पहले मुसलमान हुईं। इसके बाद वरका बिन नोफल, हज़रत अबूबकर सद्दीक़ भी इस्लाम मतके अनुयायी होगये और भी बहुत से लोगो ने आपका कहा माना और मुसलमान कहलाये। मुहम्मद साहब के चाचा हज़रत हमज़ा ने भी हार्दिक प्रसन्नतापूर्वक दीन इस्लाम स्वीकार कर लिया।

नबियों. पैगम्बरो, अवतारों तथा महात्माओं का विरोध सदा से होता आया है, इस कारण मुहम्मद साहब की शिक्षा-दीक्षा का भी बड़ेज़ोर-शोर से खण्डन तथा विरोध किया गया। हज़रत उम्र बिन ख़त्ताब जो मक्का के बड़े सरदार थे, आप का वध कर डालने की ठान कर घर से निकले, किन्तु मुसलमान होकर घर लौटे। इसकी कथा यों है:—राह में इन को पता चला कि उनकी बहन और बहनोई दोनो ही मुसलमान हो गये हैं। वह बहन के घर पहुँचे और दोनो को मारने-पीटने लगे। बहन ने कहा—"जिस धर्म-ग्रन्थ पर हम दोनों का श्रद्धा-पूर्ण विश्वास हो गया है, पहले उसको सुनलो। यदि वह पसन्द न आये, तब फिर जो जी चाहे कर लेना।" कलाम मजीद पढ़वा कर सुना, तो उनकी दशा में

आकाश-पाताल का अन्तर हो गया। जब यह मालूम हुआ कि मुहम्मद साहब हजरत अरक़म के यहां टिके हुए हैं, तो उनके घर पहुँचे। जब लोगों ने देखा कि उम्र तलवार लगाये द्रुत गति से लपकते चले आ रहे हैं, तो वे बड़े सटपटाये, परन्तु मुहम्मद साहब ने आज्ञा दी कि किवाड़ खोल दो। यह भीतर आए और बड़े आवेशपूर्ण स्वर मे बोले—"ऐ अल्लाह के रसूल! मैं अल्लाह तथा अल्लाह के रसूल पर ईमान लाता हूं।" यह आगे चल कर "फारूक आज़म" के नाम से प्रसिद्ध हुए। हज़रत अबू बकर सद्दीक, हज़रत उम्र फारूक, हज़रत उस्मान ग़नी तथा हज़रत अली मुर्तिजा ये "चार यार" के नाम से विख्यात हैं, कारण, ये चारों मुहम्मद साहब के मित्र थे।

हजरत मुहम्मद सब को खुदा का कलाम सुनाते थे, पर काफिर आपके उपदेश पर कान नहीं धरते थे और आपको अनेक प्रकार के कष्ट देते थे। कोई आपकी हँसी उड़ाता, कोई आपको विक्षिप्त बताता और कोई जादूगर। आप जिस राह होकर निकलते, लोग आप पर धूल-मिट्टी झोंक देते, मार्ग में तीखे शूल बिछा देते, आपके घर के द्वार पर विष्टा फेंक देते, आपके ऊपर ईंटे और पत्थर बरसाने लगते। एक दिन जब आप नमाज पढ़ रहे थे, किसी ने एक ऊँट की ओमड़ी मल-मूत्र से भरी हुई आपके सिर पर रख दी, किन्तु आपने अपूर्व सहिष्णुता का परिचय दिया और कुछ न बोले। इसी प्रकार एक दूसरे दिन जब आप नमाज पढ़ रहे थे, किसी ने आपके गले मे चादर डाल कर

इतने जोर से खींची, कि आपका दम घुटने लगा। संयोगवश हजरत अबूबकर ठीक समय पर पहुँच गये और उन्हे छुडा दिया। किसी ने आपके सिर पर कीचड फेंक दी। आप घर आये, तो पुत्री धुलाने लगी। वह रोती जाती थी और जल डालती जाती थी। आप बोले—"बेटी! रो नही, खुदा आप तेरे पिता की रक्षा करेगा।"

आप के साथ आप के अनुयायियो को भी घोर कष्ट दिये जाते थे। लोग उन्हें भरपेट गोलियां देते, जलती बालू में दोपहर के समय नंगे लिटाकर भारी शिलाएँ छातियों पर धर देते, रस्सियो से जकड कर पीटते, चटाइयो में लपेट कर नाक में धुआँ पहुँचाते, बर्छियों से मारते, कोड़े लगाते। वे लोग घोर यन्त्रणायें सहते थे, पर दीन इस्लाम से विमुख होना उन्हें किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं होता था।

किन्तु जब इस युक्ति द्वारा मनोवाञ्छित सफलता प्राप्त होती दिखाई न दी, और काफ़िर उपाय करते-करते हार गये, तब उन्होंने अतबा नामक एक बड़े सरदार को इस अभिप्राय से मुहम्मद साहब की सेवा में भेजा कि वह उन्हे प्रलोभनो में फँसा कर इस्लाम धर्म-पथ-भ्रष्ट करदे। अतबा बड़ी नरमी और खुशामद के साथ बोला—"मेरे भाई के पुत्र! जो तुम्हारी इस कार्य से धन-द्रव्य संग्रह करने की कामना है, तो हम तुम्हे मालामाल कर देंगे, यदि तुम आदर-मान पाने के अभिलाषी हो तो आओ हम तुमको अपना सरदार चुनले. और यदि तुम्हे अधिकार-प्राप्ति की

इच्छा है तो हम तुम्हें अपना राजा बनाने को तैयार हैं।" इसके उत्तर में हजरत मुहम्मद ने कहा—"हे सरदार! मुझे इन में से एक भी वस्तु के पाने की कामना नहीं है। आप जायँ और लोगो से पुकार कर कह दे कि बस एक ही खुदा को मानो, और उसी से अपने पापो के लिये क्षमा प्रार्थना करो।"

काफिरों की ओर से उत्पीड़न और अत्याचार दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ते देखे तो मुहम्मद साहब ने अपने साथियो को सलाह दी कि तुम हब्श देश में चले जाओ, जहां का ईसाई बादशाह नजाशी बड़ा ही न्याय-प्रिय और दयालु स्वभाव का है, उसके राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत किसी पर कोई अत्यचार नहीं होता और सब लोग सुख, सुविधा, तथा शान्ति पूर्वक बसते हैं। आपके ग्यारह साथी वहाँ चले गये, पर काफिरो ने वहाँ तक भी पीछा न छोड़ा, और उनके मत के विरुद्ध राजा के खूब कान भरे और विष उगला। बादशाह ने मुसलमानो को राज सभा में बुलाकर असल हाल जानना चाहा। हजरत मुहम्मद के चाचा के पुत्र जाफर ने कहा :—

"हे राजन! हम लोग मूर्तियों की पूजा करते थे, गन्दे रहते थे, मुर्दार खाते थे, कन्याओ के उत्पन्न होते ही उनका गला घोट डालते थे। मद्य-पान करते, जुआ खेलते और धर्म-विहीन जीवन व्यतीत करते थे। कोई दोष, कोई अवगुण ऐसा न था, जो हम मे न हो। खुदा ने हमारी दीन-हीन दशा पर दया दिखाई, और अपने नबी हजरत मुहम्मद को हमारे बीच भेजा। यह शिक्षा

देते हैं कि हम एक खुदा को माने और मूर्ति-पूजा को छोड़ दे। इसी लिये ये लोग उन से और हम से अप्रसन्न और असन्तुष्ट हैं।" यह सुना तो बादशाह ने मुसलमानों को सहर्ष आश्रय प्रदान किया और उनके प्रति बहुत अच्छा बर्त्ताव किया।

अब काफिरो ने परस्पर परामर्श करके यह निश्चय किया कि मुहम्मद साहब के स्वजनों के साथ सम्बन्ध परित्याग कर दो, उन्हे गली-कूचों में फिरने न दो और कोई वस्तु उनके हाथ मत बेचो। यह प्रतिज्ञा-पत्र काबा मे लटका दिया गया। निरुपाय हो हजरत मुहम्मद और उनके निकट सम्बन्धी इत्यादि एक घाटी मे बन्द हो गये, जो अबू तालिब की घाटी कहलाती है। तीन वर्ष तक वहां रहे और घोरतम कष्ट और असह्य विपत्तियां झेली, किन्तु कर्तव्य-पथ से एक पग भी इधर-उधर नहीं हुए। अन्त को दीमक ने काफिरों के उस प्रतिज्ञा-पत्र को चाट लिया और इस प्रकार मुहम्मद साहब को छुटकारा मिला।

किन्तु उनके कष्ट तथा क्लेश निरन्तर बढते ही गये। तब आप ताएफ की ओर चले, पर वहां धनलोलुप सरदारों ने उनकी एक न सुनी, उलटा आप के प्रति अत्यन्त गर्हित बर्त्ताव किया और आपको अनेक कष्ट दिये। लोग आपके ऊपर इतने पत्थर फेंकते कि आप लहू से तर हो जाते, लहू बह कर जूतो में जम जाता और जूतो से पांव निकलना दूभर हो जाता। एक बार आपके इतनी चोटे आई कि मूर्छा हो आई, पर फिर भी आप यही उपदेश देते रहे कि उसी खुदा की उपासना करो, जो एक

और अद्वितीय है और मूर्ति-पूजा छोड़ दो। एक दिन घावों से लहू-लुहान, भूखे-प्यासे, थके-हारे बन मे एक खजूर के पेड़ तले बैठ गये और निमाज़ पढ़कर प्रार्थना की:—"हे अल्लाह! तू खुश है, तो कुछ दुःख नहीं। मैं तेरा संदेश लोगो तक पहुंचाने में कोई कसर उठा न रक्खूंगा। तू ही मेरी सहायता कर!" अब आप फिर मक्का लौट आये और यात्रियों और विदेश-वासियों को उपदेश देने लगे। एक बार मदीना के कुछेक रहने वालों ने इसी प्रकार "कलाम मजीद" सुना और मुसलमान हो गये।

अब आपने सभी जगह सब को यही उपदेश देना आरंभ किया:—"खुदा एक है" एक मात्र उसी की उपासना करो। मूर्तियों, पत्थरों और वृक्षों को न पूजो, कन्याओं की हत्या न करो, व्यभिचार और जुए को छोड़ दो, शरीर को शुद्ध, पवित्र रक्खो वस्त्रों को निर्मल और उजला। मुख से गन्दी और झूठी बातें न कहो। अपनी प्रतिज्ञा पालन करो। लेन-देन में किसी के प्रति कपट का व्यवहार न करो। यह तुम विश्वास मानो कि पृथ्वी आकाश, सूर्य और चन्द्रमा, फ़रिश्ते और पैग़म्बर, सब के सब अल्लाह ने उत्पन्न किये हैं और उस की सहायता के बिना ये आप कुछ भी नहीं कर सकते। रोगियों को स्वास्थ्य प्रदान करना, प्रार्थना स्वीकार करना और मनोकामना पूर्ण करना केवल अल्लाह के हाथ में हैं। उस की इच्छा और आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता।

अबूतालिब तथा हज़रत ख़दीजा के देहान्त के उपरान्त विपक्षियो का साहस और भी बढ़ गया, और उन लोगों ने मुहम्मद साहब को सताना आरंभ कर दिया, पर उन्हो ने इस की ओर कुछ भी ध्यान न दिया। उन का धार्मिक मर्तबा (पद) बढ़ता ही गया। अब उन को अल्लाह ने बहुत ही बडा पद प्रदान किया, जो आज तक और किसी नबी को नहीं दिया था, अर्थात् २७ रज्जब सन् १० नबवत को "मेराज" हुई। हज़रत जिबराईल सब से पहले आप को काबा में ले गये, जहां आपने इमाम बन कर सभी नबीयों और रसूलो को नमाज़ पढाई। फिर खुदा ने यह आज्ञा दी कि अपने अनुयाइयों को दिन-रात मे पांच बार नमाज़ पढ़ने की ताकीद करना, इस में कभी नागा न हो, इस से उनकी बड़ी पदोन्नति होगी।

मदीना के जो इने-गिने आदमी मुसलमान हो गये थे, उन के द्वारा हज़रत मुहम्मद और इस्लाम धर्म की कीर्त्ति सुनी, तो अन्य बहुत से लोग मदीना से आ आकर मुसलमान होते रहे। होते-होते मदीना इस्लाम मत का केन्द्र तथा मुसलमानों का गढ बन गया। जो कोई इस्लाम धर्म स्वीकार करता, उस को मुहम्मद साहब मदीने भेज देते। जब इस प्रकार प्रस्थान करते करते मक्के में बहुत थोड़े मुसलमान रह गये, तब कुरेश-कुल वालों ने सोचा कि अब उनका बल मदीने मे दिन पर दिन बढ़ रहा है, कहीं ऐसा न हो, यह लोग मक्के पर धावा बोल दें। इस कारण सब ने यही निश्चय किया, कि प्रत्येक घराने से एक-एक जवान

चुन लिया जाय, और वे सब रातके समय उनके घर को घेर ले, और जब प्रातःकाल आप नमाज़ पढ़ने बाहर जायें, तो सब मिलकर टूट पड़े और उन की बोटी-बोटी अलग करदें।

किन्तु खुदा ने आप को विपक्षियों के इस षड्यन्त्र से सूचित कर दिया और आज्ञा दी कि आप मक्का छोड़ मदीने चले जाये। सब लोग अपनी अपनी धरोहर मुहम्मद साहब के पास ही रक्खा करते थे। इस कारण हज़रत अली को अपने पलग पर लिटा और यह कहकर कि "तुम सब के धरोहर लौटा देना, और कोई चिन्ता न करना, तुम्हारी कुछ भी क्षति नहीं होगी" आप ने वहां से प्रस्थान किया। जब काफिरों ने देखा कि आप साफ़ निकल गये, तो बहुत कुढ़े। चारों दिशाओं में दौडाए और आप को ढूंढने निकले। हज़रत मुहम्मद और उनके साथी एक खोह में चले गये, किन्तु विपक्षी गण वहां तक भी आ पहुंचे। ईश्वर की लीला देखो, उस खोह के मुंह पर मकड़ी ने जाला पूर दिया, ऊपर से जगली कबूतरो ने अंडे दे दिये। काफ़िर समझे, खोह के भीतर कोई नहीं है, और आगे बढ़ गये। खोह में हज़रत सिद्दीक़ को सर्प ने डस लिया, पर आप ने अच्छा कर दिया। तीसरे दिन मदीने की राह ली, पर एक सवार की दृष्टि उन पर पड़ी। वह भाला लेकर पीछे दौड़ा, पर घोड़े ने ठोकर खाई और सवार औंधे मुंह पथरीली धरती पर गिर पड़ा। आप को उसपर बड़ी दया हो आई और उसको आशीर्वाद दिया। वह उठ खड़ा हुआ, अपने कियेपर बहुत पश्चात्ताप किया और मुसलमान होगया।

मार्ग में आप मदीने से थोड़ी दूर इधर कावा में चौदह दिन ठहरे और वहाँ एक मस्जिद की नींव डाली। मदीना निवासी आपके आने की राह देख रहे थे। लोग प्रति दिन नगर से बाहर दूर तक देख-देख कर आते। जब आपने नगर में प्रवेश किया, तो हर एक आदमी यही चाहता था कि आप उसी के यहां ठहरें। इसपर आप ने कहा कि ऊंटनी को छोड़ दो, जहां खुदा की इच्छा होगी, उसी जगह ठहर जायगी। ऊटनी हज़रत अबू अयूब के घर के पास जाकर ठहरी। उन्हो ने आधा मकान आप को भेंट कर दिया। जिस जगह ऊंटनी ठहरी, उस का मूल्य चुका कर आपने वहां एक मस्जिद बनाई और उसका सारा काम आप ने और आप के साथियों ने अपने ही हाथों से किया।

मस्जिद में खुदा की उपासना बे रोक-टोक होने लगी। नमाज़ के अनन्तर आप सब को यह उपदेश देते थेः—"जो कोई खुदा के बन्दों-मनुष्य मात्र-को प्यार करता है और बचो से स्नेह रखता है, वही उस का कृपापात्र बनता है। लोगो! दीनों और अनाथो पर दया करो, भूखो को भोजन और नंगों को वस्त्र दो। चाहे कोई अपना हो वा पराया, सब के प्रति सौजन्यता तथा प्रेम-पूर्ण बर्त्ताव करो। प्रसन्नतापूर्वक सलाम करके एक-दूसरे से मिलो। आप सुकर्म करो, तथा दूसरो को शुभ कर्म करना सिखाओ।"

जो लोग मक्का से आए थे, वे "महाजरीन" कहलाते थे। मदीना-निवासियो अर्थात अनुसार ने उनकी सहायता की। मदीने में पधारने के पहले ही वर्ष में मुहम्मद साहब ने यह प्रयत्न किया

कि मुसलमानों और यहूदियो में परस्पर मेल-जोल होजाय,इस लिये दोनो पक्षो के प्रतिनिधियों से एक प्रतिज्ञापत्र लिखवा दिया गया।

मक्का में निरन्तर तेरह वर्ष तक असंख्य दुःख-कष्ट भोगने के पश्चात् मुहम्मद साहब मदीने में पधारे थे, पर यहां भी शत्रु उत्पन्न हो गये, और बद्र के मैदान मे लड़ाई हुई। मुसलमानों की ओर कुल तीन सौ तेरह आदमी, दो घोड़े और सत्तर ऊँट थे और दूसरी ओर शस्त्रों-अस्त्रो से सुसज्जित प्रायः एक सहस्र जवान। पर जीत फिर भी मुसलमानो की ही हुई। युद्ध के बन्दी मुहम्मद साहब की आज्ञा से छोड़ दिये गये और उनके प्रति बहुत अच्छा बर्त्ताव किया गया। इसके पश्चात् अहद की लड़ाई हुई। बद्र की हार से काफिरों के हृदय मे क्रोधानल भड़की हुई थी। उन में से बहुतसो ने शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की थी कि जब तक मुसलमानो से बदला नहीं चुका लेंगे, और उन्हें नामशेष न कर देंगे, न नवीन वस्त्र धारण करेंगे और न किसी आनन्दोत्सव में ही सम्मिलित होंगे। इस कारण वे लोग इस बार हथेलियो पर सिर रख कर लड़े। मुसलमान योद्धाओ ने भी प्राणों का मोह त्याग अनुपम शूरवीरता दिखाई। इस लड़ाई में मुहम्मद साहब को पत्थरों की इतनी चोटे आई और उन्होंने तीरों के इतने घाव खाए कि बेसुध हो गिर पड़े। शत्रु समझे कि आपकी जीवन-ज्योति बुझ गई, पर आप थोड़ी देर पीछे उठ खड़े हुए, और अपने शत्रुओं के लिये इस प्रकार प्रार्थना की;—"या खुदा! इन लोगो के अपराध क्षमा कर दे, ये जानते नहीं हैं कि क्या कर रहे हैं।"

इसके बाद हुदीबिया की सन्धि हुई, जिसकी एक शर्त ये भी थी कि मुसलमानो और कुरैश कुल वालो के बीच आगामी दस वर्ष तक कोई युद्ध न हो पाएगा। इस के अतिरिक्त एक शर्त ऐसी भी थी,जो मुसलमानों के प्रति सर्वथा अन्याय पूर्ण थी। हजरत उम्र इत्यादि मुसलमानों को अपने मतावलम्बियों का अपमान असह्य हो उठा, पर मुहम्मद साहब सन्धि का सन्देश लेकर आए थे, और नही चाहते थे कि युद्ध हो। इस कारण उन शर्तों को स्वीकार कर लिया और हजरत अली को समझाया कि खुदा की आज्ञा ऐसी ही है, वह मुझे कभी अपमानित नही करेगा।

जब यहूदी शठता से नहीं टले, तो उन्हे खैबर में निर्वासित कर दिया गया, किन्तु वे यहां भी चैन से न बैठे और बहुसंख्य सेना,संग्रह कर मदीने पर आक्रमण करने का उपक्रम किया। मुहम्मद साहब ने सोलह सौ सैनिक खैबर की ओर भेजे। कई दिन तक लोहे से लोहा बजता रहा, अन्त में मुसलमान ही विजयी हुए। कुछ काल अनन्तर मुससलमान सेना ने बड़े धूम धड़ाके के साथ मक्का नगर मे प्रवेश किया। सभी काफिर घिर गये और रक्तपात के बिना ही मक्का जीत लिया गया। मुहम्मद साहब ने सात बार काबा की परिक्रमा की, नमाज पढ़ी,उसके बाद उन सब मूर्तियों को तोड़ डाला जो खुदा के घर में रक्खी थीं। फिर आप ने यह उपदेश दिया:— "लोगो! खुदा एक है और अद्वितीय है। उसने अपना वचन पूरा कर दिखाया और अपने बन्दे की सहायता की। सभी लोग आदम की सन्तान हैं और

आदम मिट्टी से बने थे, अर्थात मनुष्य मनुष्य में कोई भेद भाव नहीं होना चाहिये, सभी बराबर हैं, कोई छोटा व बड़ा नहीं है। लोगो! तुम क्या समझते हो कि आज तुम्हारे प्रति कैसा व्यवहार किया जायगा?"

काफ़िरों ने सिर झुका कर उत्तर दिया—"आप हमारे सज्जन भाई और भाई के पुत्र हैं (अथवा हमें आप की ओर से किसी भी अत्याचार वा उत्पीड़न की आशा नहीं)।" मुहम्मद साहब ने सब को क्षमा कर दिया, यहाँ तक कि अपनी बड़ी बेटी जैनब के निर्मम हत्यारे हब्बार बिन असवद का अपराध भी क्षमा कर डाला। यह दशा देख वे लोग पश्चात्ताप-सागर में डुबकियां खाने लगे और प्रायः सभी कुरैश उसी दिन मुसलमान हो गये।

एक दिन आप वृक्ष की छाया में अकेले ही सोए थे। इतने में वाअसूर नामक एक काफिर लपका और तलवार सूत कर कहने लगा—"हे मुहम्मद! अब कौन तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ है?"

आप लेटे से उठ बैठे और बोले—"खुदा मेरी रक्षा करने हारा है।" उसी क्षण वाअसूर की तलवार लपक कर छीन ली और पूछा "अब तू बता, तुझे कौन बचाएगा?" वाअसूर निराश होकर बोला—"कोई नहीं।" आप ने खड्ग उसके आगे फेंक दी और कहा—"अपनी तलवार उठा ले और मुझ से दया दिखाना सीख।" वाअसूर ने तौबा की और उसी क्षण मुसलमान हो गया।

जब मक्का जीता जाचुका तो वहां के दो घराने परस्पर मिल कर मुसलमानो पर चढ़ आए। हज़रत मुहम्मद अपने साथियों

को सङ्ग लिये शत्रु-सैन्य से भिड़ने को निकले। आपके साथियों ने सोचा, हमारे पास बारह सहस्र सेना है और गोली-बारूद और खाद्य पदार्थों का भी कुछ अन्त नहीं, हम से शत्रु कैसे टक्कर लेगा? खुदा को यह घमण्ड बुरा लगा, और समर-क्षेत्र में मुसलमानो में भागड़ पड़ गई। तब मुहम्मद साहब ने एक सौ आदमियो को इकट्ठा करके शत्रु-दल पर धावा बोल दिया और उसे हरा के छोड़ा। इस युद्ध मे बहुत सा लूट का माल अर्थात् हजारो स्त्रियाँ, बालक, ऊँट, बकरियां, चांदी इत्यादि मुसलमानों के हाथ आया। यह लड़ाई हुनीन के युद्ध के नाम से विख्यात है। इस युद्ध में जो स्त्रियाँ पकड़ी गईं थीं, उनमें हातिमताई की पुत्री भी थी। जब मुहम्मद साहब बन्दियों का निरीक्षण कर रहे थे, तब उसने सन्मुख उपस्थित होकर कहा—"मैं अपनी जाति के सरदार हातिम की पुत्री हूँ। मेरा पिता मर चुका है, मेरा भ्राता परास्त हो भाग गया, मेरा आज कोई सहायक या आश्रय-प्रदाता नहीं है, और मैं बदिनी हूँ।" आप ने उसको मुक्त कर दिया और उसके आग्रह से अन्यान्य बन्दियों को भी छोड़ दिया और उसको मार्ग-व्यय देकर उसके भाई आदी के निकट भेज दिया। इसके अनन्तर भाई-बहन दोनो ने इस्लाम मत स्वीकार कर लिया।

काफिरों के एक क्रीत दास हब्शी ने ओहद के युद्ध मे मुहम्मद साहब के चाचा हमजा की हत्या करके उसका यकृत (जिगर) निकाल लिया था। मक्का विजित होने के पश्चात् वह भागा-भागा फिरता था, पर कहीं भी उसको आश्रय नही मिलता था। एक दिन

हज़रत मुहम्मद की सेवा में उपस्थित हुआ और कहने लगा—"मुझे इतना अवकाश तो अवश्य प्रदान कीजिये, कि मैं आप से .खुदा का कलाम सुनूँ।" आपने आयत पढ़ी, जिसका भावार्थ यह है—'हे मुहम्मद! कहदो, अल्ला निस्संदेह सभी पापों और दोषो को क्षमा करने वाला है।"

हत्यारा हब्शी यह सुन कर बोला—"क्या मेरा अपराध भी क्षमा हो सकता है?"

आप ने कहा—"क्यो नही?"

वह हब्शी उसी क्षण मुसलमान हो गया।

एक दिन ईसाई आकर आप से वाद-विवाद करने लगे। तब आपने कहा—"सुनो, .खुदा पवित्रतामय है, न उसका कोई पुत्र है और न स्त्री। वही सारे संसार का पालक,पोषक, रक्षक,जन्म-दाता और हम सब का स्वामी है। मूसा नबी की भाँति हजरत ईसा भी नबी थे और .खुदा के नेक बन्दे।" ईसाई निरुत्तर होगये।

आप सरल, सीधा जीवन व्यतीत करते थे। एक दिन आप अपनी कोठरी मे चटाई पर लेटे थे और कुछ बिछाने को न था। चटाई के चिन्ह आपके शरीर पर अङ्कित हो गये। एक श्रद्धालु मुसलमान ने यह देख कर कहा—"हा खेद! रूम और ईरान के नरपति आनन्द उड़ाते हैं, परन्तु हमारे नबी जो दीन और दुनिया के बादशाह हैं इस दशा मे रहते हैं!"

आप बोले—"मुझे सांसारिक सुख-भोग की कामना नहीं है, .खुदा मुझे दीनों की मृत्यु प्रदान करे!"

आप के पास कोई दीन-दुखिया आता, तो आप स्वयं भूखे रहते और उसको भरपेट भोजन कराते, अपने वस्त्र उतार कर दे डालते और अपने द्वार से कभी भी किसी को निराश नहीं लौटाते थे परन्तु आप भिक्षुकवृत्ति को पसद नही करते थे और जो कोई ऐसा आदमी आप के पास आता तो आप उसको सदा यही उपदेश देते कि मिहनत-मजूरी करके कमाओ और खाओ।

एक दिन आप बन में चले जारहे थे और बहुत से मुसलमान आप के साथ थे। गरमी के दिन थे और ठीक दोपहर का समय था। आकाश से आग बरस रही थी। दूर-दूर तक जल का कहीं नाम तक न था। आपने एक छोटी सी मश्क जिस में थोड़ा सा जल था उठाई और अपने साथियो को जल पिलाने लगे। सब ने जी भर कर जल पिया और छोटी सी मश्क का जल सैकड़ो आदमियो के लिये पर्याप्त होगया!

इसी प्रकार एक बार एक दीन-हीन मुसलमान ने आपकी सेवा मे उपस्थित हो निवेदन किया—"मेरा पिता यहूदियो का ऋण छोड़ कर मर गया है। यहूदी पुनः पुन. उसके चुकाने पर जोर दे रहे हैं पर मेरे हाथ में कुछ नहीं है। आपने कहा कि—"तेरे पास कोई वस्तु हो तो ले आ।" वह थोड़ी सी खजूरें ले आया। आपने उन पर हाथ फेर कर कहा—"अब इन खजूरों को तौल-तौल कर यहूदियों को दे।" उसने ऐसा ही किया और सारा ऋण चुक गया। इसी प्रकार आपने और भी अनेक चमत्कार दिखाए, किन्तु आपका सबसे बड़ा चमत्कार "कुरान शरीफ़" है।

हजरत मुहम्मद के भक्तो और इस्लाम धर्म के अनुयायियो की संख्या बड़े द्रुत वेग से बढ़ती जाती थी। अब मुहम्मद साहब ने अपने समय के सभी मुख्य-मुख्य नृपतियों को इस्लाम मत में दीक्षित होने का निमन्त्रण दिया। चारो ओर दूत भेजे गए। प्रत्येक पत्र पर आपकी मोहर लगी होती थी। वह चाँदी की बनी हुई थी, और उस पर तीन पंक्तियों में यह अङ्कित था— "मुहम्मद रसूललिल्लाह।" बसरा के बादशाह ने आपके दूत का वध करा दिया। इसके फल स्वरूप युद्ध हुआ। विपक्षियो का सैन्यबल एक लाख से कम न होगा। डेढ़ दिन की लड़ाई के अनन्तर मुसलमानो ने अपने से चालीस गुना अधिक, सुसज्जित और सुरक्षित सेना को परास्त करके छोड़ा।

अब क्या था? समस्त अरब देश पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और वहाँ के रहने वालो ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया, अर्थात् जिस उद्देश्य को लेकर आप संसार में आये थे, उसकी पूर्ति हो गई। आपने अभी तक हज नहीं किया था, इस लिए सन् १० में हज की घोषणा कर के मदीने से प्रस्थान किया। एक लाख चालीस हजार मुसलमान इस यात्रा मे आपके साथ थे। चलने से पहले एक दिन आपने अर्फात् की पहाड़ी पर चढ़कर यह उपदेश दिया :—

"मुसलमानों! कदाचित् अगले वर्ष में तुम्हारे साथ नहीं हूंगा, इस लिये मेरी बातों को तनिक ध्यानपूर्वक सुनो! एक भाई का कर्तव्य है कि वह दूसरे भाई का यथोचित आदर-मान करे। पराए

माल पर नियत बिगाड़ना हराम है। सब को एक दिन खुदा की दर्गाह् में जाना है, जहां प्रत्येक पुरुष-स्त्री के एक एक शुभ-अशुभ, छोटे-बड़े काम का लेखा जोखा होगा। जो जैसा करेगा, वैसा ही फल उसको मिलेगा। स्त्री जाति के प्रति अनुचित और अन्याय सङ्गत व्यवहार कभी न करना वरन सब प्रकार से उन पर दया भाव बनाए रखना। अपने दासों को भी उसी तरह सुख तथा आनन्दपूर्वक रखना, जैसे आप रहो। उन से कोई अपराध बन पड़े तो क्षमा कर देना, कभी किसी के स्वत्व को पद-दलित न करना। किसी पर किसी प्रकार का अत्याचार न करना। खुदा एक है और अद्वितीय है। वह सभी लोकों का स्वामी है और उसके अधिकार में सब कुछ है। वह जो चाहे कर सकता है।"

जब हज करके लौटे, तो एक दिन यहूदियों के सरदार हारस की पुत्री जैनब ने आप को भोजन मे पधारने के लिये निमन्त्रण दिया और भोजन मे विष दे दिया। जब यह रहस्य खुला तो मुसलमान जैनब को पकड़ कर आपके सन्मुख लाए जिससे उसे यथोचित दण्ड मिले। किन्तु आपने कहा कि इस स्त्री को छोड़ दो, मैंने इसका दोष क्षमा कर दिया। उसके अनन्तर आप तरेसठ वर्ष की आयु में संसार से विदा हो ख़ुदा के पास पहुँच गये। मृत्यु से पूर्व एक दिन नमाज के पश्चात् आपने कहा:—"लोगो! मैंने कोई अन्याय या अत्याचार किया हो तो मुझे क्षमा करदो। किसी को बुरा भला कहा हो तो आज मुझे कहलो। किसी का ऋण मेरे सिर बाकी हो तो वह ले ले। लोगो! मुझे क्षमा कर दो

जिस से मैं खुदा के दरबार में खुश खुश जाऊँ और वहाँ मुझे किसी बात पर लज्जित न होना पड़े और वह मुझ से लेखा-जोखा न करे।"

एक व्यक्ति बोला—"मेरे तीन दिरहम आपके सिर बाकी हैं, जो एक भिक्षुक को देने के लिये आप ने मुझ से लिये थे।

कहना न होगा कि तुरन्त ही वह ऋण चुका दिया गया। उसके पश्चात् घड़ी-घड़ी आपकी दशा बिगड़ती ही गई। उस समय आपके मुख से यही शब्द निकल रहे थे—"बड़े मित्र के पास! बड़े मित्र के पास!"

आप मदीने में नबी की मस्जिद में आराम करते हैं, अर्थात् जहाँ देहान्त हुआ, उसी जगह दफ़न कर दिये गये।

हज़रत मुहम्मद की शिक्षा।

आप की शिक्षा है एक खुदा को मानना, उसको अपना रब जानना, और प्रत्येक बात में उसी से सहायता के लिये प्रार्थना करना, उसको छोड़ और किसी का भय अपने मन में न लाना और यह विश्वास रखना कि जो कार्य खुदा के करने के हैं उन्हें और कोई नहीं कर सकता है। उन्होंने बताया है कि सब मरने के बाद पुनर्जीवित होंगे; जो सत्पुरुष हैं वे "बहिश्त" में चैन करेंगे और जो दुष्ट जन हैं वे "दोज़ख़" में निरन्तर प्रचण्ड ज्वालाओं में जलते रहेंगे।

मुसलमानों के लिये ये चार कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं:—नमाज़, रोज़ा, हज और ज़कात। पहले दो तो सबके लिये होते हैं

किन्तु पिछले दो केवल उन्हीं के लिये होते हैं जो धनवान और समर्थ हों।

"ला इलाहा इल् लिल्ला मुहम्मदुर्रसूलिल्लाह", यह मुसल्मानों का कलमा है। इसका अर्थ है:—"नहीं है कोई उपास्य देव अल्लाह के सिवा और मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं।"

आपने जगह जगह त्याग, न्याय-प्रियता, दया, दाक्षिण्य, सरलता, निष्कपटता, भिक्षा-वृति से घृणा, उपहार स्वीकार करना, अतिथि-सत्कार, पशुओ पर दया करना, बच्चों से प्यार, दास-दासियों के प्रति अच्छा बर्ताव, भ्रातृभाव, यह समझना कि ख़ुदा के सब बंदे बराबर हैं, लज्जाशीलता, अपने हाथ से अपना काम करना, दूसरों की सहायता करना, साहस, उत्साह, शूरवीरता, प्रतिज्ञा पालन, सहानुभूति, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा इत्यादि बातों पर विशेष ज़ोर दिया है। आप इन समस्त शुभ गुणों से अलंकृत थे। आप ने अपने जीवन में पग-पग पर इनका कार्य रूप में परिचय दिया है।

आपने यह उपदेश दिया है कि हमें अपने से भिन्न मत-मतान्तरों के अनुयायियो के साथ भी बहुत अच्छा बर्त्ताव करना चाहिये। आपने कहा है कि नरमी करो, अल्लाह प्रत्येक बात में नरमी पसंद करता है। आप अपने शत्रुओ के लिये भी शुभ कामना और मङ्गल-प्रार्थना करते थे। उन्होने कभी भी किसी शत्रु को दुराशीस नही दी और जब भी उन पर काबू पाया, उनके अपराध क्षमा कर दिये।

मुहम्मद साहब के वचन (हदीस)

"मुसलमानो ! किसी का ईमान तब तक ठीक नहीं होता जब तक वह दूसरों के लिये भी वही न चाहे जो अपने लियेचाहता है।"

"जो मनुष्यों पर दया नहीं दिखाता, उस पर अल्लाह भी दया नहीं करता।"

"सब से उत्तम और श्रेष्ठ मनुष्य वही है, जिसके द्वारा दूसरों का अधिक से अधिक कल्याण हो।"

"अल्लाह नरम दिल और प्रसन्न मनुष्य को ही प्यार करता है।"

"ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्न न करना हराम है।"

"शक्तिमान वह नहीं जो दूसरों को पछाड़ दे, वरन बलवान तो बस वही है जो क्रोध के समय अपने आप को वश में रक्खे।"

मुसलमान को यह नहीं भाता कि वह आप तो पेट भरले और उसका पड़ोसी भूखा रहे।"

"अल्लाह तुम्हारे मुख अथवा धन-द्रव्य को नहीं देखता, वरन् तुम्हारे कर्मों तथा हृदयो पर दृष्टि रखता है।"

"जो परोपकार का मार्ग दिखलाता है, उसने मानो आप ही उपकार किया।"

"जो व्यक्ति किसी की एक अंगुल भूमि भी अकारण दबाएगा, "कयामत" के दिन वह सात तह नीचे धँसा दिया जाएगा।"

"झगड़ालू-प्रकृति मनुष्य सब से अधिक घृणा का पात्र है।"

"जो अपने भाई की आवश्यकता में काम आता है, अल्लाह उसकी आवश्यकता में सहायता प्रदान करेगा।

इस लोक में अत्याचार, परलोक मे अन्धकार। अत्याचारी और उन के पृष्ठपोषक और सहायक सब जहन्नुम में जायंगे। अत्याचार-पीड़ित की ठंडी साँस और खुदा के बीच में कोई रुकावट नहीं। किसी पर किसी प्रकार अत्याचार न करना।

"जो संसार में किसी का कष्ट दूर करदे, खुदा क़यामत में उस के कष्ट निवारण करेगा।"

"उस मनुष्य का क्या कहना जो अपने दोष के आगे दूसरे का दोष नहीं देखता।"

"जो जैसा करेगा, वैसा ही फल उस को मिलेगा।"

"न्याय-पूर्वक बिताई हुई एक घड़ी सत्तर वर्ष की उपासना से अच्छी है।"

"जो कोई धर्म-मार्ग से विचलित होता है, विनाश के मुख में गिरता है। उस का पतन अवश्यम्भावी है।"

"पाप परित्याग ही त्याग वा 'सदका' है।"

"मनुष्य जाति के प्रति सहानुभूति रखना ही मनुष्यों की प्रकृत निधि है। जब मनुष्य मर जाता है, तो लोग पूछते हैं कि कि वह कितना धन-द्रव्य छोड़ मरा, परन्तु फरिश्ते (देव दूत) उस से यह पूछते हैं कि तुमने संसार में क्या-क्या शुभ कर्म किए हैं।"

"पर्वतों से भी भारी, लोहे से भी कड़ी, अग्नि से भी बढ़ कर शक्तिशाली, जल से भी अधिक बलवान तथा वायु से भी बढ़ कर गतिवान यदि कोई वस्तु है, तो वह दानशीलता है।"

---

[७]

श्री गुरु नानक देव

सिक्ख धर्म की नीव डालने वाले गुरु नानक देव भारतवर्ष के उन इने-गिने महापुरुषों में से एक हैं, जिन्हों ने सब को प्रेम और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया है। यही कारण है कि हर कोई उन्हें आदरपूर्वक स्मरण करता है, चाहे वह किसी भी धर्म, मत या सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता हो। गुरु नानक देव का जन्म कार्तिक कृष्ण पक्ष पूर्णिमा सम्वत् १५२६ वि० को पंजाब के शेखूपुरा जिला के अन्तर्गत तलवण्डी ग्राम में (जिसको अब श्री ननकाना साहब कहते हैं) हुआ था। उन के पिता महता कालूचन्द वेदी क्षत्रिय तलवण्डी के हाकिम रायबुलार के प्रधान कार्यकर्त्ता थे। वह वाणिज्य-व्यापार भी करते थे, इस कारण प्रचुर धन-सम्पत्ति के स्वामी थे और गाँव में उनकी मान-प्रतिष्ठा भी यथेष्ट थी। नानक देव की माता का नाम तृप्ता देवी था। जन्म के समय साधारण शिशु रोते हैं, परन्तु जब गुरु जी ने जन्म लिया, तब वह हँस रहे थे। पण्डित हरदयाल ज्योतिषी ने गुरु जी की जन्म-पत्रिका तैयार की थी उसने महता कालूचन्द से आकर कहाः—

"महता जी! आप का इस से बढ़कर सौभाग्य और क्या हो सकता है कि इस पुत्र-रत्न ने आप के घर में जन्म धारण किया?

यह बालक असाधारण प्रतापी और तेजस्वी होगा। समस्त संसार इस के चरणों में अपना शीष नवाएगा। और हिन्दू-मुसलमान दोनों समान भाव से इस का आदर-सन्मान करेंगे। इस के सभी ग्रह-नक्षत्र और रंग-ढंग देवताओं के से प्रतीत होते हैं।"

इस बालक की सभी बातें असाधारण थीं। जब वह एक वर्ष का हुआ, तो अच्छी तरह बैठ कर चलने लगा। फिर शीघ्र ही खड़ा होना सीख लिया। इस छोटी सी अवस्था में नानक देव जी जब कभी बैठते, दोनों घुटनों के बल बैठते और ऐसे ढंग से समाधि लगा लेते जैसे कोई योगाभ्यास में निरत हो। जब आप चलने-फिरने लगे तो समवयस्क बालकों में जाकर उन्हें "सत्य कर्तार !", "सत्य कर्तार !" का उच्चारण करने की शिक्षा देते। आप खूब मस्त रहते और जो कुछ घर से पाते, सब दीनों-कङ्गालों में बांट देते। उनका अद्भुत् कार्य-कलाप देख कोई उन्हें योगी बतलाता, कोई तपस्वी और कोई ऋषि-मुनि।

जब नानक देव जी आठ वर्ष के हुए तो उन्हें हिन्दी सीखने के लिये एक उपाध्याय के पास भेजा गया। जब गुरु ने वर्णमाला के अक्षर और अङ्क लिख कर उन्हें कण्ठस्थ करने की आज्ञा दी, तब आपने अत्यन्त सरल भाव से उत्तर दिया—"यह विद्या सीखना व्यर्थ है। इस से कोई लाभ होने की सम्भावना नहीं। मनुष्य को चाहिये कि वह, वह विद्या सीखे जिससे परमात्मा के दर्शन प्राप्त हो सकें।"

जब गुरुजी ने उन से पूछा कि उस विद्या की प्राप्ति क्योंकर हो सकती है, तब आपने उत्तर दिया—"सांसारिक सुख-भोग की कामनाओं को भस्म कर स्याही बनाओ और परमात्मा के प्रेम की लेखनी बुद्धि-विवेक रूपी हाथ में पकड़ कर हृदय-पट पर सत्य कर्त्तार का नाम और उसके गुण लिखो और सदा लिखते रहो। ऐसा करने म दोनों लोकों में अपूर्व सुख-सफलता प्राप्त होगी।"

जब नानक देव की आयु नव वर्ष की हुई, तब संस्कृत सीखने के लिये उन्हें पण्डित बृजनाथ के निकट भेजा गया। पहले ही दिन जब पण्डित जी ने ओ३म् लिखा तो उन्होंने इस शब्द का अर्थ जानना चाहा। बृजनाथ ने कहा—"तुम अभी निरे बालक हो, इस का अर्थ समझ नहीं सकोगे।" इस पर गुरु नानक देव ने ओ३म् शब्द की ऐसी लोकोत्तर योग्यतापूर्वक व्याख्या और विवेचना की और ब्रह्म-ज्ञान की ऐसी-ऐसी अनूठी बातें सुनाई, कि पण्डित बेचारे की बुद्धि चकित हो गई।

जब वह ग्यारह वर्ष के हुए तो पिता ने उन्हें फारसी सीखने के लिये मौलवी कुतबुद्दीन की सेवा में भेजा, पर वही घटना घटी। उन्होंने मौलवी साहब को अलिफ, बे, पे, ते इत्यादि का अर्थ इस प्रकार समझाया:—

"अलिफ—अल्लाह को याद कर, आलस्य को मन से निकाल डाल, इस कार्य में भूल न कर। जो श्वास उसका नाम लिये बिना जाता है तो ऐसा जीवन सर्वथा निष्फल है।"

"बे–बुराई को दूर कर, भक्ति-मार्ग पर चल, सब के आगे झुक जा और किसी की निंदा न कर।"

"ते–तोबा कर, अपने किये हुए पापों के लिये पश्चात्ताप कर। विनम्र और विनय-शील बन। वह कर्त्ता और सब का स्वामी बे-पर्वाह है। यहां की कोई वस्तु साथ नहीं जायेगी। हे कुतबुद्दीन! जीवन वृथा न खो।"

इस प्रकार गुरु नानक देव सांसारिक विद्याओं से वञ्चित रहने लगे, किन्तु उनका अध्यात्मिक ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता था।

अब नानक देव के यज्ञोपवीत संस्कार की तैयारी हुई। सगे, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव सब लोग एकत्रित थे। जब पण्डित उनके गले में यज्ञोपवीत डालने लगा तो गुरु जी ने झट उसका हाथ थाम लिया और बोले—"इस धागे की मुझको आवश्यकता नहीं है। भगवान् का भजन और सदाचरण बस ये ही दो मनुष्य के श्रेष्ठतम कर्त्तव्य हैं, जो इस प्रकार बाह्य चिन्हों और आडम्बरों से पूरे नहीं हो सकते। दया की कपास से संतोष का सूत कात कर इसमें सत्यनिष्ठता का बट देकर, शुद्ध आचरण की गांठ दी जाय, तब मनुष्य के लिये असली यज्ञोपवीत तैयार हो जाता है, जो न टूटता है, न मैला होता है, न भस्म होता है और न कहीं खोया ही जाता है। यदि ऐसा यज्ञोपवीत आप के पास हो तो पण्डित जी! आप स्वयं भी धारण कीजिये और मुझे भी पहिनाइये।"

इस अल्प अवस्था में जब दूसरे बालकों को हाथ-मुंह धोने का ढंग तक भी नहीं आता और न रात दिन खेलने-खाने से ही

अवकाश मिलता है, नानकदेव जी सदा भगवान् के आराधन में तन्मय रहते थे। उन्हें एकान्त-सेवन बहुत प्रिय था। यह देख कालूचन्द यह समझा कि पुत्र का सिर फिर गया है और उसे पागलपन के रोग ने आ घेरा है तब उसने वैद्य को बुलाया। जब रोगी तथा रोग का हाल जानने के लिये वैद्य-राज ने गुरु जी की नाड़ी देखनी चाही तो उन्होंने झट अपना हाथ खींच लिया और कहा:—"चिकित्सा के लिये वैद्य बुलाया गया है। वह नाड़ी टटोलता है! भोला वैद्य यह नहीं जानता कि कसक कलेजे में है। हे वैद्य! अपने घर को लौट जा मेरा हाल मालूम करने की चेष्टा न करो। मैं तो अपने स्वामी के प्रेम में मग्न हूँ, तू औषधि किस को देता है?"

एक दिन गुरु नानक जी अपने पिता की आज्ञा से ढोर-डगर चराने को वन मे गए। एक पेड़ तले वस्त्र बिछा कर बैठ गए और भी बहुत से चरवाहे उनके पास आ बैठे। गरमी के दिन थे। ठण्डी-ठण्डी, हलकी-हलकी, सुखद समीर बह रही थी। ऐसे बातों में लगे कि गौ-भैंसों की भी सुध न रही। ढोर एक खेत में जा घुसे और सफाचट कर डाला। खेत का स्वामी सब को पकड़ गांव के हाकिम राय बुलार के पास ले गया। किन्तु जब राय बुलार गांव के कितने ही लोगों को साथ लेकर मौका देखने के लिये उस खेत में पहुँचा, तो सभी यह देख आश्चर्यान्वित हो गये कि खेत पहले ही की तरह हरा-भरा खड़ा है, उसकी कुछ भी क्षति नहीं हुई है! राय बुलार ने ऐसी ही और भी कई एक अपूर्व

घटनाएँ देखीं, जिस से वह यह समझ गया कि निस्संदेह यह पहुंचे हुए सिद्ध पुरुष हैं और शुद्ध अन्तःकरण से उनका आदर-सन्मान करने लगा।

जब नानक देव जी कुछ और बड़े हुए, तब उनके पिता ने कहा—"बेटा! अपनी खेती की देख-रेख ही कर आया करो।"

गुरु जी ने उत्तर दिया—"मैं अपनी ही खेती-बाड़ी की देख भाल से अवकाश नहीं पाता, फिर आप के खेतों का निरीक्षण क्योंकर करूँ? मेरी देह खेत है, जिसमें मेरे मन ने भगवद् भजन और शुभ कर्मों का बीज बोया है, सन्तोष तथा धैर्य का सोहागा फेरा और शील-संकोच रूपी जल सींचा गया है। प्राणि मात्र के प्रति सहानुभूति और दयाभाव ये उस की बाड़ है। इससे अनंत सुख का फल प्राप्त होगा। यही सच्ची खेती-बाड़ी है।"

पिता ने कहा—"तब फिर दुकान ही खोल लो।"

नानक देव ने उत्तर दिया—"मेरा जीवन मेरी दुकान है, जिस के बासन-भाड़े शुभ कर्म हैं। इन में निरङ्कार का नाम रूपा सौदा भरा है, जिसके बेचने से पारलौकिक सुख का लाभ प्राप्त होगा।"

यह सुन महता कालू चन्द ने कहा—"तब फिर घोड़ों की सौदागरी ही करो।"

आप बोले—"सत्य क्या है, इस पर विचार करना यही मेरी सौदागरी-वाणिज्य-व्यवसाय है। पुण्य कर्मों का मार्ग-व्यय लेकर मैं सत्य रूपी घोड़े खरीदा और बेचा करता हूँ, जिस से भगवान् का दर्शन और अनंत सुख प्राप्त हो।"

कालू—"भला! यदि तुम यह भी नहीं करना चाहते तब नौकरी ही कर लो।"

बाबा जी—"मैं ने जिस दिन से इस संसार मे जन्म लिया है, उसी दिन से अपने कर्त्ता-धर्त्ता का नौकर हूँ, और तन-मन-प्राण से उसका सेवा-कार्य करता हूँ। उस सृष्टि-कर्त्ता और सब के स्वामी को छोड़ अब मैं और किस की नौकरी करूँ?"

महता कालू चँद डरता था कि कहीं गुरु नानक देव घर-बार छोड़, सांसारिक धन्धों से मुख मोड़ साधु-सन्यासी न हो जायँ, इस लिए उस की इच्छा हुई कि उन्हें गृहस्थाश्रम के झंझटों मे फंसा दे। उसने उन को पचास रुपये देकर कहा कि जाओ, कोई खरा सौदा करो, और भाई बाला को भी उन के साथ कर दिया। एक जगह उन्होंने देखा कि साधुओ की एक टोली तीन दिन से भूखी पड़ी है। उसी क्षण वह एक गाँव मे गए और उन रुपयों की भोजन-सामग्री मोल ले आए और बड़े प्रेम और श्रद्धापूर्वक उन्हें भोजन कराया। जब घर लौट कर आए तो पिता के डर के कारण एक वृक्ष पर चढ़ कर बैठ गये। भाई बाला द्वारा कालूचन्द ने समस्त वृतान्त सुना तो क्रोध में भर उठा, और पुत्र को मारता-पीटता हुआ घर लाया। पूछने पर गुरु जी ने कहा—"आप ने खरा सौदा करने के लिये ही तो पचास रुपये दिये थे, मैंने उन से परलोक-सुख का सौदा किया है।" राय बुलार ने वह पचास रुपये अपनी गाँठ से महताजी को लौटा दिये, और उन्हें समझाया कि आगे फिर कभी नानक देव के प्रति ऐसा अनुचित व्यवहार

न करना, जो हानि उनके द्वारा हो, उसकी पूर्त्ति मैं कर दिया करूँगा।"

पिता को नानक देव के ये रँग-ढँग एक आँख भी न भाते थे, इस कारण वह उनसे अप्रसन्न और असन्तुष्ट रहने लगा। निदान माता ने नानक को उनकी बहन के यहाँ भेज दिया। नानक देव के बहनोई दीवान जयराम दिल्ली के बादशाह दौलतखाँ लोधी की ओर से सुलतानपुर (कपूरथला) में कार्य-कर्त्ता थे। उसने गुरु नानक को सरकारी भाण्डार में नौकर करा दिया। भाई बाला अब भी उनके साथ था।

अब तो बाबा नानक आप धन उपार्जन करने लगे। जो कुछ भी वह कमाते-धमाते दीनों-कङ्गालों को खिला-पिला देते, और इस से संतुष्ट रहते। इन्हें इतना दान-पुण्य करते देखा तो ईर्षा रूपी अग्नि से अनेक संकीर्णचित्त लोगों के हृदय भस्म हो उठे। वे लोग कहने लगे कि निःसन्देह यह सरकारी धन चुराते। इस पर गुरु जी से पूछ-ताछ हुई, और जो सरकारी धन उन के अधिकार में रहता था, उसका लेखा-जोखा किया गया। वह जितना चाहिये था, उससे भी अधिक निकला। निंदक चुगलखोर अपना सा मुँह लेकर रह गये।

इस के पश्चात जून मास, सन १४८८ ई० में गुरुदासपुर जिला के अन्तर्गत पक्खोकी ग्राम में लाला मूलचन्द्र की सुपुत्री बीबी सुलक्खणी से उनका विवाह हो गया। पहिले पुत्र बाबा श्रीचंद जुलाई, सन १४९२ ई० में उत्पन्न हुए और दूसरे पुत्र बाबा लक्ष्मीचन्द

फरवरी, सन १४६७ ई० मे। बाबा श्रीचंद्र ने सिक्ख साधुओ की सुप्रसिद्ध सम्प्रदाय जो उदासी कहलाती है चलाया। बाबा लक्ष्मीचद के वंशधर वेदी क्षत्रिय हैं। कुछ काल अनन्तर गुरु नानक देव ने स्वप्नावस्था में देखा कि कोई उन्हे कह रहा है:—"तुम्हें जो कार्य करने के लिये संसार मे भेजा गया है उसे पूरा करो।"

एक तो करेला कडुआ, दूसरे नीम चढ़ा। पहिले ही दुनियाँ और दुनियाँ के धन्धो मे मन का लगाव और आसक्ति नहीं थी, अब तो पूर्ण वैराग्य भाव मन मे उत्पन्न होगया और गृह-द्वार छोड़, संसार से मुख मोड़ बन को प्रस्थान किया। लोगो ने शिकायत की कि मोदीखाने का माल लुटा अब आप साधु बन बैठे हैं। सरकारी धन-द्रव्य का लेखा-जोखा हुआ भली-भांति जांच-परताल की गई, तब सात सौ साठ रुपये गुरु जी के देने निकले। नवाब के पूछने पर उन्होंने कह दिया कि यह धन दीनो और अनाथो मे बांट दिया जाय। गुरु जी ने सत्रह वर्ष तक बड़ी योग्यता, धर्मपरायणता, ईमानदारी और सुचारु रूप से सरकारी भण्डार के प्रबन्धक का कार्य किया, परन्तु कभी क्षण मात्र के लिये भी उस मे सलग्न नही हुए, अलख निरञ्जन को नही भूले। इतने दिनो तक गृहस्थाश्रम की झील में कमल-पुष्प के समान तैरते रहे। उनके बहन-बहनोई तथा अन्यान्य इष्टजनो ने उन्हे घर-बार छोड़ने से रोकने की भरसक चेष्टा की पर वह न माने और कहा—

"क्षमा हमारी माता है, सन्तोष हमारा पिता और सत्यनिष्ठा हमारा चाचा है जिनके द्वारा हमने मन और इन्द्रियो को वश में

किया है। प्राणि मात्र से प्रेम हमारा भाई है, परमात्मा की भक्ति हमारा पुत्र, साहस हमारी पुत्री, शान्ति हमारा मित्र और बुद्धि हमारी चेरी है। बस ये ही हमारे बन्धु-बान्धव और इष्टजन हैं।"

अब गुरु जी ने धर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ कर दिया और लोगों को यह उपदेश देने लगे कि धर्मपरायण जीवन व्यतीत करो और शुभ कर्म करो जिससे परमात्मा के दरबार में लज्जित न होना पड़े। वह हिन्दू-मुसलमान दोनों को समान दृष्टि से देखते थे। मुल्ला और पण्डित दोनों ही इन की इस अनुपम शिक्षा से जलने लगे। होते होते शिकायत नवाब के कानों तक पहुँची। उस ने गुरु जी को बुलवा भेजा पर आप ने जाना अस्वीकार कर दिया। जब उस ने दूसरी बार फिर बुलाया, तब आप चले गये और कहने लगे:—"जब तक मैं आप की नौकरी करता था, आपकी सेवा में संलग्न रहता था, किन्तु जब से बड़े नवाब की नौकरी की है, क्षण भर का भी अवकाश नहीं मिलता।"

नवाब ने कहा—"जो यह बात है, तब फिर आओ, मेरे साथ नमाज़ पढ़ो।"

गुरु जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। जब नवाब और काज़ी वजू करके (हाथ, पैर, मुंह धोकर) नमाज़ पढ़ने में मग्न हुए, तब बाबा जी चुपचाप एक ओर खड़े रहे। निवृत्त होकर नवाब ने पूछा—"आप नमाज़ में मेरे साथ क्यों नहीं सम्मिलित हुए ?

गुरु जी ने उत्तर दिया—"तुम्हारा मन कन्धार में घोड़े मोल लेने में लगा हुआ था, मैं नमाज़ किस के साथ पढ़ता ?"

बात बिल्कुल सच्ची थी। नवाब उसी दिन से आप का श्रद्धालु भक्त बन गया।

अब काज़ी बोला—"तो आप मेरे ही साथ पढ़ लेते।"

बाबा जी ने उत्तर दिया—"तुम्हारा मन तो घर पर घोड़ी के बछेरे में पड़ा था। तुम्हें बस यही चिन्ता व्याप रही थी कि कहीं वह जलपूर्ण गढ़े में न गिर पड़े।"

ज्यों ही यह सुना, काज़ी पानी पानी हो गया।

अब गुरु जी की कीर्ति दूर और निकट चारों दिशाओं मे विद्युत्-वेग से फैलने लगी। असंख्य हिन्दू-मुसलमान आपके उपदेश से लाभ उठाते और सहस्रों रुपये भेंट चढ़ाते। बाबा जी सारा धन-द्रव्य दीनों-अनाथों में बांट देते थे।

अब गुरु जी ने देश-पर्यटन की मन में ठानी। गांव का मीरासी मर्दाना भी आप के साथ हो लिया। वह गुरु जी के रचे हुए शब्द गा-गा कर उन्हें सुनाया करता। भाई बाला पहले से ही साथ था। पहले लाहौर गये और ज्ञान के उपदेश का स्रोत बहा कर सत्यार्थियों की प्यास बुझाई। वहाँ से आप एमिनाबाद पहुँचे और एक निर्धन श्रमजीवी लालू बढ़ई के घर जाकर टिके। उन्ही दिनों में वहाँ मलिक भागू ने ब्रह्म-भोज किया पर गुरु जी उस में सम्मिलित नहीं हुए। जब मलिक ने इस बात की शिकायत की, तब गुरुदेव ने अपने एक हाथ मे लालू के घर की रूखी-सूखी रोटी का टुकड़ा और दूसरे मे भागू के घर की मिठाई की डली, जिससे घी निचुड़ रहा था, लेकर दोनों को निचोड़ा तो

रोटी में से दूध और मिठाई में से लहू की बूँदें टपक पड़ीं। भागू को विस्मय-सागर में डुबकियां खाते देख गुरु जी ने कहा—"एक हक़-हलाल की कमाई है और दूसरी अत्याचार, उत्पीड़न और हराम की। गुरु जी ने भविष्य-वाणी की कि थोड़े ही दिनों में इन अत्याचारियों का बेड़ा डूब जायगा। जैसे एक ही पापी के कारण भरी हुई नाव डूब जाती है, उसी प्रकार केवल एक अत्याचारी के कारण यह नगर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा!" और हुआ भी ऐसा ही। थोड़े ही दिनों पीछे बाबर बादशाह ने एमिनाबाद की ईंट से ईंट बजा दी।

गुरु जी को एमिनाबाद में ही छोड़, उनकी अनुमति पा भाई मर्दाना थोड़े दिनों के लिये अपने पत्नी-पुत्रों से मिलने के लिये तलवण्डी गया। जब वह लौटा तो महता कालूचन्द, माता तृप्ता तथा अन्यान्य बड़े-छोटे इष्टजनों और राय बुलार की ओर से भी यह संदेश लाया कि नानक जी से कहना कि आकर मुझे मिल जायँ, हमारा जी मिलने को चाहता है, परन्तु वृद्धावस्था और दुर्बलता के कारण हम लोग यात्रा करने की सामर्थ्य नहीं रखते, इसलिये स्वयं चलकर आप के पास नहीं आ सकते। गुरु जी ने तुरन्त तलवण्डी को प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचे तो सबने उनके घर पर रहने के लिये आग्रह किया और बहुत समझाया, किन्तु गुरु जी ने यही उत्तर दिया:—

"यह अनित्य, अचिरस्थायी घर किस काम का है? मेरा निवास उस घर में है, जो कभी नाश को प्राप्त नहीं होगा। उत्तम

गुण मेरे सगे सम्बन्धी हैं और परम पिता परमात्मा मेरा स्वामी है। ऐसे दयालु, कृपालु परमात्मा का सहारा छोड़ मैं और किस का आश्रय ग्रहण करूँ ?"

वहाँ से चल कर कई जगह होते हुए नानक देव स्यालकोट पहुंचे। उस जगह उन्होंने हमज़ा गौस नामक एक मुसलमान फकीर को उपदेश द्वारा सन्मार्ग दिखाया। गुरु जी यहाँ एक बेरी के पेड़ तले टिके हुए थे, इसी लिये यह स्थान "बाबे दी बेरी" के नाम से प्रसिद्ध है। गुरु जी के स्मारक रूप से वहां एक विशाल गुरुद्वारा बना हुआ है। स्यालकोट से आप अपनी जन्म-भूमि में आये फिर यहाँ से मालवा इत्यादि प्रान्तों मे प्रचार करते और उपदेशामृत की नदियां प्रवाहित करते हुए कनखल पहुँचे। उस वर्ष हरिद्वार मे कुंभ का मेला था। सहस्रों पुरुषो और स्त्रियो ने आपके मनोहर उपदेश और दिव्य वाणी से अपरिसीम लाभ उठाया।

हरिद्वार से आप दिल्ली आए। उन दिनों दिल्ली के सिंहासन पर सिकन्दर लोधी विराजमान था, जिसने कबीर भक्त को गङ्गा में, नामदेव को उन्मत्त हाथी के आगे और रविदास को मकान की छत पर से फेंकवा दिया था। बादशाह की आज्ञा से गुरु महाराज को कारागार में बंद कर दिया गया और तीन मन नाज पीसने को दे दिया मर्दाना साथ था। वह यह देख बहुत घब-राया, पर नानक जी ने उन्हें सान्त्वना दी और अन्यान्य बन्दियो को भी जो कारागार में असह्य यन्त्रणाएँ भोग रहे थे, कहा कि

कोई चक्की को हाथ न लगाए और सब सुखपूर्वक सो जाओ। लीलामय भगवान की लीला! अगली सवेरे क्या देखने में आया कि गुरु जी के एक शब्द पढ़ते ही सब की चक्कियाँ आप-से-आप चलने लगीं और देखते-देखते सबका नाज आप-से-आप पिस गया। कारागार के प्रबन्ध-कर्त्ता ने तुरन्त जाकर बादशाह को इस बात की सूचना दी। उसने आकर छिपे छिपे अपने नेत्रों से यह अविश्वसनीय और अद्भुत दृश्य देखा, तो चकित रह गया, गुरु जी से क्षमा-प्रार्थना की और उनके आदेशानुसार सब हिंदू-मुसलमान बन्दियों को छोड़ दिया। बादशाह ने बहुसंख्य धन-द्रव्य आप के चरणों में भेंट करना चाहा, किंतु आपने एक फूटी कौड़ी भी स्वीकार नहीं की।

इसके पश्चात् आपने मथुरा, आगरा, कानपुर लखनऊ इत्यादि अनेक नगरों में धर्म-प्रचार किया, जिसका लोगों पर आश्चर्य-जनक प्रभाव पड़ा। संयुक्त प्रान्त में आज भी आप के अनुयायियों की एक बहुत बड़ी संख्या पाई जाती है। ये लोग "नानक-पन्थी" कहलाते हैं। यहाँ से होते हुए गुरु जी पहले कुरुक्षेत्र गए, फिर कुम्भ के मेले पर हरिद्वार पहुंचे। जब उन्होंने अनेक लोगों को गङ्गा में खड़े होकर सूर्य की ओर मुख करके अपने पितरों को जल देते देखा, तब आप पश्चिम की ओर मुख करके यों ही जल उछालने लगे।

लोग उन्हें ऐसा करते देख कर कहने लगे—"अरे मूर्ख! तू यह क्या कर रहा है?"

गुरु जी ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—"कर्तारपुर में मेरे कुछेक खेत हैं, उन्हें जल दे रहा हूँ।"

लोगों ने कहा, "तेरी भी बहुत अच्छी बुद्धि है! भला चार चुल्लू जल इतनी दूर क्योंकर पहुँच सकता है?"

इस पर गुरु जी बोले—"जब मेरा जल कर्तारपुर तक भी नहीं पहुंच सकता, तब फिर तुम्हारा जल पितृ-लोक में क्योंकर पहुंच सकता है?" यह सुन सब खिसयाने हो गये।

यहां से चलकर गुरुजी बिहार प्रान्त में गये और बहुत से लोगों को छोड़ भीलों के मनुष्य-भक्षी राजा कौड़ा राक्षस को भी अपने अनुपम उपदेश द्वारा सन्मार्ग पर ले आए और उस से आगे के लिये यह प्रतिज्ञा कराई कि मैं फिर कभी कोई कुकर्म नहीं करूँगा। इसी प्रकार आप के उपदेश के आश्चर्यजनक प्रभाव से भूमिया डाकू की कायापलट हो गई। घूमते फिरते कुछ दिनों पीछे वह सुलतानपुर में आ निकले। भगिनी तथा भगिनी-पति से मिले, पर थोड़े ही दिन ठहर कर फिर प्रस्थान किया। भाई बाला तथा मर्दाना दोनों साथ थे। बीकानेर, जोधपुर, अजमेर इत्यादि में अद्भुत ब्रह्मज्ञान की शिक्षा से निःसीम लाभ पहुँचाते हुए गुरु जी करनाल पहुंचे और उपदेश-कार्य आरम्भ कर दिया। आपकी शिक्षा-प्रद और प्रभाव-पूर्ण वाणी को हिन्दू-मुसलमान दोनो समान श्रद्धा भाव तथा चाव से सुनते थे। किसी ने मुलतान इब्राहीम लोधीके कान भर दिये कि एक नया पंजाबी साधु आया है, जो हिन्दू-मुसलमान दोनोंको सन्मार्ग पर लानेका दावा करता है।

सुलतान की आज्ञा से बाबा जी को पकड़ कर सभा में उपस्थित किया गया। सुलतान ने प्रश्न किया—"आप हिन्दू-मुसलमानो के धर्म-दीन मे छिद्रान्वेषण किस लिये करते हैं?"

गुरुजी ने उत्तर दिया—"मेरा अभिप्राय केवल यह है कि उन्हे उनके दोष दिखाऊँ। ये दोनो जो कुछ कहते हैं, उसको कार्य-रूप मे करके नही दिखाते। हिन्दू-मुसलमान और जाति-पांति का भेद-भाव अप्राकृतिक और बनावटी है। उस सब के कर्त्ता-धर्त्ता और स्वामी की दृष्टि मे सभी एक समान हैं, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा है। जो लोग शुभ कर्म करते हैं, वे शुभ फल पाते हैं और जो लोग पाप कर्म करते हैं, वे दण्ड भोगते हैं। जब कर्मों का लेखा होगा, उस समय इस बात की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जायेगा कि अमुक हिन्दू है और अमुक मुसलमान।"

सुलतान को आप की यह उक्ति नितान्त असह्य हो उठी और उसके आदेशानुसार गुरुजी बन्दी-गृह की काल कोठरी में डाल दिये गये।

उपरोक्त घटना को अभी बहुत दिन नही हो पाये थे कि लोधी वँश के शासन का अन्त हो गया, और फकीरो-साधुओ का मित्र, धर्मात्मा बाबर बादशाह दिल्ली के राज-सिंहासन पर बैठा। गुरुजी इस आशय की एक भविष्य-वाणी पहिले ही कर चुके थे। अस्तु, गुरु नानक का मामला बाबर के सम्मुख उपस्थित हुआ, तो उसने उसी क्षण आज्ञा दी कि इन्हे अविलम्ब कारागार-मुक्त कर दिया जाय। परन्तु जब तक शेष सभी बन्दियों को मुक्त नही कर दिया

गया, गुरुजी ने कारागार से बाहर निकलना स्वीकार न किया। जब बाबा जी को राज-सभा में लाए, उस समय बादशाह मद्यपान कर रहा था। उसने एक प्याला भर कर बाबा जी के सम्मुख धरा। इस पर उन्हों ने कहा — "भंग, धतूरा और मद्य का नशा सवेरे को उतर जाता है, किन्तु कर्तार के नाम की मदिरा जो मैंने पी है, उसकी खुमारी रात दिन चढ़ी ही रहती है।"

सम्राट् बाबर यह सुन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बहुसंख्य धन-द्रव्य और बहुत सी बहुमूल्य सामग्री उनकी भेंट करनी चाही, पर उन्हो ने एक छदाम तक भी ग्रहण करना स्वीकार न किया और कहा:— "सब को देने वाला वही सृष्टि-कर्ता है। उस को छोड़ जो कोई और किसी के आगे हाथ फैलाता है, वह अपने नाम तथा मान-मर्यादा दोनों को बट्टा लगाता है, और विशेषतः जो साधु-फ़क़ीर होकर माँगता है, वह साधु-फ़क़ीर कहलाने का अधिकारी नहीं और सच्ची साधुता से कोसो दूर है।"

बादशाह से विदा हो गुरु नानक देव ने मध्य भारत, दक्षिण इत्यादि प्रान्तों में भ्रमण किया। रामेश्वर तथा मालाबार के राजे उनके श्रद्धालु भक्त बन गये। जब आप हिन्दुओं के सुप्रसिद्ध तीर्थ जगन्नाथ जी में पहुंचे, तो वहाँ के राजा ने बड़े ही आदर-सम्मान पूर्वक आपका स्वागत किया। संध्या समय जब जगन्नाथ जी की आरती उतारने की तैयारी हुई, तब अनेक दीपक जलाए गये, खूब शङ्ख, घड़ियाल बजने लगे, और सहस्रों नर-नारी श्रद्धा और भक्ति भाव सहित आरती उतारने के लिये तैयार हुए। तब एक पुजारी

ने आपकी सेवा में उपस्थित हो आपसे आरती में सम्मिलित होने की प्रार्थना की।

इसपर आपने कहा:—"पत्थर की, अपने ही हाथों द्वारा बनी हुई मूर्तियों के आगे शीष झुकाने से कुछ भी लाभ होने की सम्भावना नहीं है। हमारा प्यारा वही है, रात, दिन सूर्य, चन्द्रमा तारागण, विश्व-ब्रह्माण्ड सब मिल कर जिसकी आरती उतारते रहते हैं। उसकी अगणित मूर्तियाँ हैं, फिर हम कौनसी मूर्ति के आगे शीष नवाएं ? मनुष्य निर्मित मूर्ति के सन्मुख हम व्यर्थ ही अपना सिर झुकाते हैं। पूजा और वन्दना के योग्य उस सत्य कर्तार के सिवा और कोई भी नहीं है।"

वहाँ से आप जूनागढ़ पहुँचे, और वहां हजरत दातागंज बख्श से, जो एक पहुंचे हुए मुसलमान फ़क़ीर थे, भेंट की। इस के पश्चात आप घूमते-फिरते मुलतान पहुँचे, वहाँ से तलम्बा नामक स्थान में आए। वहाँ सज्जन नामक एक ठग को जिसके अत्याचार और उत्पात से लोग बहुत तङ्ग आये हुए थे, आपने सदुपदेश देकर उसे पुण्य-मार्ग का अनुगामी बनाया। वह पहले लोगों को लूट लेता था, पीछे अत्यंत निर्दयता-पूर्वक उनका वध कर डालता था। उसने मर्दाना का प्राण संहार करने की भी चेष्टा की थी, पर गुरु जी ने उसको ऐसा मनोहर उपदेश दिया कि उसने निज कृत पापों तथा अत्याचारों के लिये शुद्ध अन्तःकरण से पश्चात्ताप प्रकट किया और प्रण किया कि भविष्य में मैं ऐसे कुकर्म कभी नहीं करूंगा।

इसके अनन्तर गुरु जी सुलतानपुर आकर बीबी नानकी से मिले, फिर व्यास के किनारे कर्त्तारपुर बसाया, जहाँ उनकी यादगार में एक बड़ा भारी गुरुद्वारा बना हुआ है। कुछ दिनों पीछे गुरु महाराज फिर देश-पर्यटनके लिये निकले। वह जब एमिनाबाद के बाहर जङ्गलमें टिके हुये थे, उस समय तारू नामक एक क्षत्रिय नवयुवक आपके दर्शन करने के लिये आया। उस की सारगर्भित बातें सुन और असाधारण बुद्धिमत्ता देख गुरु देव बोले—"भाई! तुम हो तो अल्पवयस्क किन्तु बातें करते हो बुड्ढो की सी।" फल यह हुआ कि तारू जी तभी से बाबा बुड्ढा के नाम से प्रसिद्ध हो गये। उन्होंने सवा सौ वर्ष की दीर्घायु पाई और दूसरी बादशाही से छटी बादशाही पर्यंत पाँच गुरुओं को गद्दी पर अभिषिक्त किया और तिलक लगाया। वहाँ से चल कर आप पहाड़ी देशों में गये और पर्वतों के रहने वालों को अपना सुन्दर, मनोहर उपदेश सुनाया। इस के बाद नैपाल, भूटाल, सिक्कम, चीन इत्यादि देशों में भ्रमण किया। भाई मर्दाना ने मक्का शरीफ देखने की इच्छा प्रकट की, तब आप ने कहा—"कर्त्तार के रँग देखते रहो, थोड़े दिनों में वहां भी चलेंगे।"

कराची से चल कर बलोचिस्तान देखते हुए गुरुजी हाजियों का सा वेश धरे मक्का शरीफ पहुँचे। जब रात हुई, तो काबा की परिक्रमा में काबा की ओर पांव करके गुरु जी सो रहे। प्रातः काल एक मुजावर ने उन्हे इस ढँग से पांव पसारे पड़े सोते देखा तो क्रोधानल मे भस्म हो उठा और ठोकर मार कर गुरुजी को

जगाया और आवेश-पूर्ण स्वर में पूछा—"रे मूर्ख ! तू कौन है, जो इस प्रकार खुदा के घर की ओर पैर पसारे पड़ा सोता है ?"

बाबा जी के मन मे कोई अशुभ भाव तो था ही नहीं, आप ने शान्ति पूर्ण-स्वर तथा विनम्र शब्दो में कहा—"बाबा ! मैं थका हारा यात्री हूँ। जिधर खुदा का घर न हो, कृपा करके उस ओर मेरे पांव करदे।"

भगवान् की लीला देखो, उस ने जिस ओर भी गुरु जी के पैर किये, उधर ही काबा दीख पड़ा। अन्त को आप ही थक कर रह गया और समझा कि यह अवश्य ही कोई सिद्ध पुरुष हैं। काज़ी को सूचना मिली, तो वह भी वहां आया और बाबा जी से पूछा—"महाराज ! आप हिन्दू हैं वा मुसलमान ?"

बाबा जी ने उत्तर दिया—"हिन्दू-मुसलमान दोनों का शरीर उसी जल, वायु, अग्नि और मिट्टी से बना हुआ है, दोनो के शरीर की बनावट मे भी किसी प्रकार का अंतर नही है, दोनो का सृष्टि-कर्त्ता और जीवन-प्रदाता भी एक ही है और उसकी दृष्टि में हैं भी ये दोनों ही एक समान। न कोई श्रेष्ठतर है और न कोई निकृष्टतर"

फिर आप मदीना पधारे। चारों इमाम आप की योग्यता और अथाह ज्ञानका लोहा मानगये,और समझगये कि यह अवश्य ही परमात्मा के प्यारे सिद्ध पुरुष हैं। उन्होंने कहा— "यदि आप हज़रत मुहम्मद साहब और चारों यारों (मुहम्मद साहबके चार मित्र थे) पर ईमान लाएँ, तब सारा संसार आपका शिष्य बन जाय।"

इस पर गुरुजी ने उत्तर दिया—"अग्नि, जल, मिट्टी और वायु, ये चारों हमारे मित्र (यार) हैं, और हमारी आत्मा हमारा पैगम्बर (ईश्वर का संदेश हम तक पहुँचाने वाला) है।"

मदीने से गुरुजी बग़दाद आये, जहाँ उनकी जगत्-विख्यात लोभी और अत्याचारी बादशाह सुल्तान हमीद क़ारूँ से भेंट हुई। आप के दिव्य उपदेश का उक्त सुल्तान पर ऐसा आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा कि उसने अपना चिर-सञ्चित, असंख्य धन-द्रव्य दीनो और अनाथो मे बँटवा दिया, और वह आप, उस के मन्त्री और प्रधान कर्मचारी बाबा जी के भक्त हो गये। सुल्तान ने एक चोग़ा जिस पर कुरान की आयतें लिखी हुई थीं, गुरुजी की सेवा में भेंट किया। यह चोग़ा आज तक डेरा बाबा नानक के गुरु-द्वारे मे विद्यमान है और "चोला साहब" के नाम से प्रसिद्ध है। बग़दाद के पीराने पीर नामक उद्यान मे आपका स्मारक स्थापित किया गया। बग़दाद निवासी गुरु जी को "नानकापीर" अथवा "हिन्दी पीर" के नाम से स्मरण करते हैं।

अब आप रूम देश मे पधारे। तोहरान, हरात, बुखारा इत्यादि नगरो में उपदेशामृत की वर्षा करते हुए जब आप स्वर्जाम नगर मे पहुँचे, तो भाई मर्दाना इस असार संसार से विदा होगये। काबुल, कंधार, जलालाबाद और पेशावर होते हुए आप हसन-अबदाल पहुँचे। यहां एक प्रसिद्ध कंधारी फकीर यार अली रहते थे। उनके निवास-स्थान के निकट ही एक ठडे-मीठे जल का स्रोत था। इस के सिवा नीचे और कहीं जल नहीं मिलता था, पर

फ़क़ीर साहब यहां से किसी को जल नहीं लेने देते थे। किसी ने गुरु जी से यह बात कही। आप ने जांच की, तो शिकायत अक्षरशः ठीक पाई। भगवान् की लीला! उसी क्षण वह स्रोत बन्द होगया और पहाड़ की तलहटी में जहां गुरु जी ठहरे हुए थे, एक शीतल, स्वच्छ, जल का सोता उबल पड़ा। यह देख फ़कीर वार अली बहुत अप्रसन्न और क्रुद्ध हुए और एक टीला नीचे को लुढ़का दिया जिससे बाबा जी उसके तले दब मरें। परन्तु बाबा जी ने उस टीले को अपने पञ्जे से रोक लिया, इसी कारण वह स्थान उस दिन से पञ्जा साहब के नाम से प्रसिद्ध है। यहां एक सुविशाल, सुन्दर गुरुद्वारा बना हुआ है। पञ्जा साहब से आप सुलतानपुर आए और बीबी नानकी से भेंट करके फिर चल दिये।

मिते की सराय निवासी भक्त लहना जी क्षत्रिय, दुर्गा के श्रद्धालु उपासक थे। वह एक दिन देवी के दर्शन करने जा रहे थे, राह में संयोगवश गुरु नानक देव के दर्शन हो गए। आप के सदुपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ा कि लहना जी उसी दिन आप के चेले बन गए। गुरु जी उनकी सेवा तथा श्रद्धा से इतने प्रसन्न थे कि उन्हें अपना अङ्ग कहा करते थे। यद्यपि गुरु जी के दो पुत्र जीवित थे, तथापि उन्होंन इन्हीं को अपना उत्तराधिकारी बनाया। माता सुलक्षणी ने बहुतेरा ज़ोर लगाया कि गुरु जी अपने पुत्रों मे से किसी को गद्दी पर बिठाएं पर यह असाधारण गौरव और प्रतिष्ठा उन में से किसी को भी प्राप्त न हो सकी, कारण, उन में से कोई भी गुरुदेव की परीक्षा मे पूरा नही उतरा। बाबा जी ने

माता जी को सदा यही उत्तर दिया—"जो कर्त्तार को स्वीकार होगा हो रहेगा। जो व्यक्ति जिस वस्तु का अधिकारी होता है, वह उसको मिल रहती है।"

फल यह हुआ कि मुक्तिधाम को सिधारने से पहले ही आप ने अङ्गद जी को गुरु-गद्दी पर बैठा दिया। माता सुलक्षणी तथा दोनो साहबज़ादों को यह बात बहुत बुरी लगी। नानक देव गुरु की गद्दी को पैत्रिक सम्पत्ति नही बनाना चाहते थे, बल्कि वह समझते थे कि जो कोई पन्थ की सब से अधिक सेवा करने के योग्य और समर्थ हो, वही इस गद्दी का अधिकारी है। उन की दूरदर्शी निगाह ने चारों ओर ध्यानपूर्वक देखा, किन्तु उन्हें लहना जी से अधिक योग्य व्यक्ति दिखाई न दिया। आपने अपनों और और इष्ट जनों के विरोध की ओर भी कुछ ध्यान नहीं दिया। महापुरुष "सत्य" के मुकाबिले में कब किसी की प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता की परवाह करते हैं?

भाई मर्दाना का ख्वारजम नगर में देहान्त हो चुका था और भाई बाला को गुरु जी ने अपनी पत्नी-पुत्रों के बीच में रह कर अपने जीवन के अंतिम दिन व्यतीत करने की अनुमति प्रदान कर दी थी। अब गुरु जी आप भी कर्त्तारपुर में अपने माता-पिता और परिवार के साथ आ ठहरे। वह चाहते थे कि अब एक जगह स्थायी रूप से ठहर कर धर्म का उपदेश देते रहें। यहीं संवत् १५९५ वि० मे आपकी माता जी का स्वर्गवास हो गया और उसके पाँच ही दिन पीछे पिता जी का भी देहान्त हो गया

गुरु महाराज के शिष्यों की संख्या अब दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ रही थी और कर्त्तारपुर में श्रद्धालु सिक्खों का रात-दिन ताँता लगा रहा था, किन्तु हा खेद ! आप १० आश्विन, सम्वत् १५९६ वि० को पहर रात रहे मुक्ति-धाम को सिधार गए।

जिस समय गुरु जी का स्वर्गवास हुआ, अपना सारा कुटुम्ब और अनेक श्रद्धालु सिक्ख उपस्थित थे। मृत देह को नहला-धुला और कफ़न पहिरा कर अरथी तैयार की गई और उसे उठाकर श्मशान की ओर ले गए। जब चिता पर धर कर शव को आग लगाने का समय आया, तब मुसलमान भक्त जिन में बहुत से अफ़गान थे चिल्ला उठे कि बाबा साहब मुसलमान थे, इसलिये हम उनकी मृत देह को गाड़ेंगे और उस पर "मज़ार" बनायेंगे। इधर हिन्दुओं ने कहा कि नहीं, गुरु जी हिन्दू थे, इस कारण हम हिन्दुओं की रीति-परम्परा के अनुसार उनके शव का दाहकर्म करेंगे। झगड़ा बढ़ते देख एक आदमी बोल उठा, कि अकारण ही बात को इतना बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है, बाबा जी हिन्दुओं के भी थे और मुसलमानों के भी, इसलिए शव को आधा-आधा बांट लो। अपना हिस्सा मुसलमान धरती में गाड़ दें और हिन्दू उसका दाहकर्म कर दें यह बात सभी पसन्द आई, किन्तु जब शव के समीप जाकर ऊपर से चादर उठाई तो देखते क्या हैं कि शव का कहीं पता नहीं और उसके स्थान पर नव-विकसित फूलों का ढेर पड़ा है। फूलों को आधा-आधा बांट लिया। हिन्दुओं ने अपने धार्मिक विश्वास तथा रीति के अनुसार उन्हें जला कर

समाधि बना दी और मुसलमानों ने गाड़कर क़ब्र बना दी। परन्तु कराल काल की गति निराली है। उसके हाथ से न वह समाधि सुरक्षित रही और न वह मक़बरा ही। चिरकाल पीछे उस जगह एक चौकोर, सुविशाल भव्य भवन बनवाया गया, जो अब "डेरा साहब" के नाम से प्रसिद्ध है।

पंजाब की पवित्र भूमि को यह अनुपम गौरव प्राप्त है कि उसने गुरु बाबा नानक को जन्म दिया, जिन्होंने समस्त संसार को अलख निरञ्जन, निरङ्कार की भक्ति और उपासना के उपदेश से गुंजा दिया।

गुरु नानक देव की शिक्षा।

आपकी शिक्षा अत्यन्त सरल, साधारण और मनोहारिणी थी, और शिक्षा देने का ढंग भी बड़ा ही रोचक, अनुपम, चित्ताकर्षक तथा प्रभावशाली था। यही कारण है कि आप का उपदेश लोगों के हृदयों में घर कर जाता था। आप हिन्दू-मुसलमान दोनों को समान भाव से सन्मार्ग दिखाते और एक, अद्वितीय, परमेश्वर की उपासना का उपदेश देते थे। यदि कोई हिन्दू आप के पास आता तो आप उसे सच्चा हिन्दू बनने का उपदेश देते और जब कोई मुसलमान आपकी अपूर्व शिक्षा से लाभ उठाना चाहता, तब आप उसे सच्चा मुसलमान बनने की शिक्षा देते। आप की दृष्टि में हिन्दू-मुसलमान दोनों बराबर थे।

आपका वचन है कि परमेश्वर ने मनुष्य को हिन्दू बनाया है और न मुसलमान। उसने सब को एक ही जैसा उत्पन्न किया है,

और मनुष्य मनुष्य के बीच जो भेद भाव है वह सर्वथा अप्राकृतिक और बनावटी है। जो कोई ईश्वर की आज्ञा पालन करेगा, वही उसके चरणारविन्द में आदर पाएगा। परलोक में उसी का मुख उज्ज्वल होगा, मत के विचार से चाहे वह हिन्दू हो वा मुसलमान, ईसाई हो अथवा पारसी। जो मनुष्य जैसे कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है चाहे तुरन्त चाहे कुछ विलम्ब से। जो कोई पाप कर्म करता है, वह दण्ड पाता और दारुण कष्ट भोगता है और जो शुभ कर्म करता है वह शुभ फल और सुख-सौभाग्य का अधिकारी ठहरता है। जब कर्मों का लेखा होगा, उस समय धर्म वा मत किसी भी काम न आयेगा, न उच्च जाति वा कुल-गौरव ही सहायक हो सकेगा और न किसी पीर-पैग़म्बर की सहायता से ही कोई प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा।

आपकी शिक्षा है कि—"जो कोई धर्म के नाम पर अथवा उसकी आड़ लेकर भगवान् के निरपराध जीवों, असहाय और निर्बल मनुष्यों पर अत्याचार करेगा, अन्त में उस को हाथ मल-मल कर पछताना और रोना पड़ेगा।"

गुरु जी एक, अद्वितीय, सत्य कर्त्तार की उपासना करने की शिक्षा देते थे। वह लोगों को मूर्तिपूजा से रोकते और कहते थे कि पूजा और उपासना के योग्य केवल एक वही परमात्मा है। आप कहते हैं:—"पत्थरों की पूजा करना निष्फल है, पवित्र तीर्थ-स्थानों की यात्रा से भी कुछ लाभ होने की सम्भावना नहीं। यदि मनुष्य का मन अपवित्र और अन्तःकरण मलिन हो, तब वह

कैसे शुद्ध हो सकता है ? जिस के पाने के लिये लोग बनो, जङ्गलो और दुर्गम पर्वतो की गुफाओ मे भटकते फिरते और तीर्थों पर मारे मारे घूमते हैं, वह परमात्मा तो मनुष्य के भीतर ही, मन के राजसिहासन पर, विराजमान है। क़बरे पूजने और मुर्दों के श्राद्ध करने से कुछ भी लाभ नहीं। आगे वही मिलेगा जो यहाँ कमाया है।"

गुरु नानक देव उपदेश देते हैं:—"हे नानक ! सब एक समान हैं। न कोई उत्तम है न कोई अधम, न कोई ऊँचा है और न कोई नीच, न कोई स्पृश्य है और न कोई अस्पृश्य। अच्छी जाति उसी की है जो अच्छे कर्म करता है। पुण्यात्मा कहलाने का अधिकारी वही है जिसके घट में ईश्वर का नाम बसता है। हे नानक ! सारा संसार दुःखी है, सुखी केवल वही है जो परमात्मा का हो रहता है। वह सभी दुःखों, सारे क्लेशों से छुटकारा पा जाता है। रे मनुष्य ! तेरा मन झूठा, काया झूठी, ज़बान झूठी, मुंह झूठा, बात-चीत झूठी, फिर तू सच्चा, शुद्ध-पवित्र, साफ़-सुथरा क्योंकर हो सकता है ? मोह, माया, कपट, अहङ्कार, झूठ इत्यादि सभी विकार मन से दूर कर दे।

"नानक ! नन्हे हो रहो जैसी नन्ही दूब।
होर सकल जर जायगा रहे दूब की दूब॥"

आहा ! कैसी अनुपम शिक्षा है !

राजा राम मोहन राय

संसार मे प्रत्येक कार्य के लिये एक निश्चित समय होता है। प्रकृति का अटल नियम है कि जब जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, परमात्मा उसको उसी समय उत्पन्न करते हैं। जब गरमी अपना खूब जोर दिखा चुकती है, तब वर्षा ऋतु का आरम्भ होता है। जब जाड़ा असह्य हो उठता है, तब ग्रीष्म ऋतु आ जाती है। जब रावण के अत्याचारो और दुराचारों की कोई सीमा नहीं रह गई, तब महाराज रामचन्द्र ने अवतार धारण किया। जब कंस ने अंधेरगरदी मचा रक्खी थी और भारत देश उसके अत्याचार, उत्पीड़न और अन्याय से जर्जरित हो रहा था, उस समय परमात्मा ने अत्याचार पीड़ित असहाय दीनों की सहायार्थ श्री कृष्ण भगवान् को मर्त्यलोक मे भेजा। जब सर्वथा निर्दोष, अनबोल पशुओ के लहू से आर्यावर्त की पवित्र भूमि लाल हो रही थी, दया भाव का भारतीयों के हृदयों मे मानों चिन्ह मात्र तक भी न रहा था, उस समय बुद्ध भगवान् पधारे।

इसी नियम के अनुसार, जब बङ्गालमें धर्म के नाम से असंख्य अधर्म फैल गये थे तब उनके मिटाने के लिये राजा राममोहन राय ने जन्म ग्रहण किया। एक ओर उच्च शिक्षा-प्राप्त हिन्दू अपने धर्म के महत्व को न समझने के कारण उनसे विमुख हो रहे थे,



राजा राममोहन राय

दूसरी ओर ईसाई मत के प्रचार के लिये अनवरत चेष्टाएँ हो रही थी। विधवाओं को उन के मृत पतियों की चिता पर बैठा कर बलपूर्वक भस्म कर डालते थे। बाल विवाह का भीषण प्रकोप था। एक से अधिक विवाह करने की निन्दित प्रथा भी प्रचलित थी। कुलीन ब्राह्मणो में एक एक पुरुष के सौ-सौ विवाह भी थोड़े समझे जाते थे। सैंकड़ों दोष-युक्त और हानिकर प्रथाएँ देश में फैली हुई थीं। पश्चिमी शिक्षा तथा विज्ञान की ज्योति अभी तक भारतवर्ष मे फैलनी आरम्भ नहीं हुई थी और पूर्वीय विद्याओ तथा कलाओं की ओर देशवासियों का यथोचित ध्यान नहीं था। अँग्रेजी शासन की जड़ अभी भली-भाँति इस देश मे जमने नहीं पाई थी, और समग्र देश अविद्या के अन्धकार में डूबा हुआ था।

इन सभी बुराइयों तथा दोषों को दूर करने के लिये परमात्मा ने सन् १७७४ ई० में राजा राममोहन राय को भेजा। आपने बङ्ग देश में कृष्णा नगर के समीप राधा नगर में वहाँ के सुप्रसिद्ध 'राय वंश' में जन्म लिया। आप किसी राजा के पुत्र नहीं थे। आप के पिता रामकांत राय एक सुप्रतिष्ठित कुलीन ब्राह्मण थे। पण्डित रामकांत के दादा ने मुर्शिदाबाद के नवाब के यहाँ कुछ काल तक नौकरी की थी। उनके सेवा-कार्य से सन्तुष्ट हो उक्त नवाब ने उन्हें राय की उपाधि प्रदान की थी। पण्डित रामकांत भी कुछ दिनो इस नवाब के यहां नौकर रहे, पर फिर बरदवान राज्य के अन्तर्गत कई एक ग्राम ठेके पर ले लिये। राजा राममोहन राय

की माता तारणी बाई ऐसी धर्मात्मा, दयालु स्वभाव, कोमल-चित्त, सुशीला और मृदु-भाषिणी स्त्री थी कि सभी लोग उसे फूल ठकुरानी कह कर पुकारते थे। उस की सर्वप्रियता की कोई सीमा न थी। यह प्रायः असंभव था कि ऐसी सर्वगुण सम्पन्ना, पुण्यात्मा माता के गुणों से उन का सुयोग्य पुत्र वञ्चित रहे।

राजा जी के माता-पिता वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी थे। बाल्यावस्था में उनकी भी अपने कुल-धर्म में बड़ी श्रद्धा थी। अपने गृह-देवता श्री राधा-गोविन्द के आप बड़े भक्त थे। कहते हैं कि वह घन्टों तक, बड़ी ही श्रद्धा और भक्ति पूर्वक, देवता के चरणों में लोटते रहते थे। बहुत दिनों तक राजा जी की यही दशा रही, कि जब तक श्रीमद्भगवत गीता के कम से कम एक अध्याय का पाठ न कर लेते, जल की एक बूंद तक ग्रहण न करते।

राम मोहन राय को लिखना-पढ़ना सीखने के लिये पहले गाँव की एक पाठशाला में भर्त्ती कराया गया। आप की अद्भुत प्रतिभा कुशाग्र-बुद्धि, तीव्र स्मरण शक्ति, एकाग्र-चित्तता और कार्य करने की शक्ति और अदम्य साहस और उत्साह देख सभी लोग आश्चर्य चकित रह जाते थे। एक दिन प्रातःकाल आप वाल्मीकीय रामायण का पाठ करने बैठे। घर वालों को कह दिया कि जब तक मैं पाठ समाप्त न करलूं मुझे कोई न बुलाए। उस दिन से पहले आपने उक्त ग्रन्थ का पाठ कभी नहीं किया था। जब तक आपने सातो काण्ड पढ़कर समाप्त नहीं कर लिये, उसी जगह बैठे रहे। जब पढ़ चुके, तब उठ कर भोजन किया।

आप मृत्यु पर्यन्त अपनी असाधारण मानसिक शक्तियों का परिचय देते रहे। आप के शारीरिक बल और शक्ति का भी कोई ठिकाना न था। आप मूर्तिमान् सौन्दर्य थे। डील डौल बहुत अच्छा और मुख-मण्डल तेजोमय था।

यद्यपि भारत देश में अँग्रेजी शासन की जड़ जमनी आरम्भ हो गई थी, तथापि फ़ारसी भाषा का बड़ा प्रचार और ज़ोर था। उच्च तथा प्रतिष्ठित सरकारी पद प्राप्त करने के लिये, वकील बनने के लिये, अथवा यदि और कुछ भी नहीं, तब कम से कम सुसभ्य, सुशिक्षित तथा सज्जन और कुलीन कहलाने और समाज में आदर मान पाने के लिये ही सही। फ़ारसी तथा अरबी की शिक्षा प्राप्त करना उन दिनों भी परम आवश्यक समझा जाता था। उस समय इन भाषाओं का केन्द्र पटना था। इस कारण आप पटना भेजे गये। तब आप की आयु केवल ६ वर्ष की थी। आप तीन वर्ष तक पटना में रहे, और अरबी तथा फ़ारसी दोनों भाषाओं में असाधारण योग्ता प्राप्त करली। यूक्लिड तथा ऑरस्टॉटल कृत अनेक ग्रन्थ आपने इन्हीं दिनों अरबी भाषा में पढ़े। फ़ारसी में सूफ़ी कवियों की कविताएँ आप को अत्यन्त पसन्द आईं। इस लिये हाफ़िज़, मौलाना रूम इत्यादि महा कवियों की कविताएं आपने कण्ठस्थ करली। उन्हीं दिनों आपने क़ुरान-शरीफ़ का स्वाध्याय करना आरम्भ किया। उसकी एक, अद्वितीय खुदा को मानने की शिक्षा और मूर्ति-पूजा के विरोध ने आपके मन को बड़ा ही प्रभावान्वित किया।

जब दो वर्ष पीछे आप घर लौटे, तो फ़ारसी, अरबी तथा बङ्गाली इन तीनो भाषाओं के पूर्ण पण्डित और ज्ञाता हो गये थे। परन्तु नाना के कुल की रीति-परम्परा के अनुसार यह आवश्यक और अनिवार्य समझा गया कि संस्कृत भाषा का यथोचित ज्ञान भी प्राप्त किया जाय। फलतः पण्डित रामकांत राय ने आप को बारह वर्ष की अवस्था में संस्कृत पढ़ने के लिये काशी भेज दिया। वहां आप चार वर्ष तक बड़े ही मनोयोग तथा परिश्रम-पूर्वक संस्कृत पढने में लगे रहे। कुरान की एक, अद्वितीय खुदा को मानने की शिक्षा पहले ही आप के हृदय पर गहरा प्रभाव डाल चुकी थी। अब उपनिषदों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण और पारायण किया। तब उनमें भी वही 'एक ब्रह्म' की उपासना का उपदेश दृष्टिगोचर हुआ। यह आपके मन को बहुत भाया।

परिणाम यह हुआ कि आप का मन शनैः शनैः वैष्णव सम्प्रदाय की ओर से फिर गया। उन्होने एक छोटी सी पुस्तक मूर्ति-पूजा का खण्डन करने के लिये रची। यद्यपि वह छप कर प्रकाशित न हो सकी, तथापि किसी प्रकार उनके पिता को इस पुस्तक का पता चल गया। वह बहुत अप्रसन्न हुए और राम मोहन राय को बहुत कुछ बुरा-भला कहा। किन्तु फिर भी वह अपने प्रकृत विचार अपने माता-पिता के सम्मुख उपस्थित करने में तनिक भी न हिचकिचाए। कारण, राम मोहन राय उन इने-गिने पुरुष-सिंहों में से थे जो अपने हृदय के भावों के प्रकाश करने में कभी किसी से नहीं डरते और जो कार्य एक बार

आरम्भ कर देते हैं, उसे समाप्त किये बिना कभी नहीं छोड़ते। चाहे फिर अपने प्राणों की बलि ही क्यों न दे देनी पड़े। राजा राम मोहन राय अपने आन्तरिक विश्वास की गरदन पर छुरी फेर कर पिता को प्रसन्न करने वालों में से नहीं थे। माता-पिता ने बहुतेरा समझाया, परन्तु सब निष्फल हुआ। निरुपाय और निराश हो उन्होंने राम मोहन राय को घर से निकाल दिया।

घर से निकल कर पहले आपने भारत देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भ्रमण किया, और जो धर्म वा मत जहाँ कहीं प्रचलित देखा, उसका ध्यान पूर्वक अध्ययन किया। इसके अनन्तर आप बौद्ध मत के सम्बन्ध मे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिये तिब्बत देश में गये। तिब्बत-निवासी लामा गुरु को समस्त ब्रह्माण्ड का सृष्टि-कर्ता जानते और उसी की पूजा करते थे। और यह समझते थे कि उसकी मृत्यु कभी नहीं होती, प्रत्युत वह केवल चोला बदलता रहता है। राजा जी तो मूर्त्ति-पूजा, मनुष्य-पूजा तथा नास्तिकता के कट्टर विरोधी थे ही। इसी कारण तिब्बत में भी वहाँ के प्रचलित मत के विरोध तथा खण्डन का झण्डा खुल्लमखुल्ला ऊंचा कर दिया। लोगों को यह बात अत्यन्त असह्य हो उठी और वे उनके रक्त के प्यासे बन बैठे। किन्तु तिब्बत की स्त्रियाँ उनके आड़े आईं और उन्होंने सब प्रकार की उनकी सहायता की और उन के प्राणों की रक्षा की। राजा जी के मन पर तिब्बती स्त्रियों के इस श्लाघनीय बर्ताव का बड़ा प्रभाव पड़ा। इस का फल यह हुआ कि आप मृत्यु पर्यन्त स्त्री-जाति के सच्चे हितैषी

बने रहे और उनकी दयनीय दशा में सुधार, और उनकी उन्नति तथा उपकार के लिये तन, मन, प्राण से सदा ही प्रयत्न करते रहे।

जब राजा राम मोहन राय को घर छोड़े बहुत दिन हो गये, तब पिता की छाती में स्नेह-सागर उमड़ आया। उसने पुत्र की खोज में चारों ओर आदमी भेजे। उन में से एक पता लगाता-लगाता तिब्बत तक जा पहुँचा और राजा जी को अपने सङ्ग लौटा लाया। मत-भेद की बात भूल कर पिता ने उन्हें फिर अपने घर में स्थान दे दिया। वह आकर यथापूर्व फिर संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन में लग गये। पण्डित रामकान्त राय भ्रमवश यह समझ बैठे थे कि देश-विदेश में इतने दिनो टक्करें मारते फिरने तथा अनेक प्रकार के कष्ट और यन्त्रणायें भोगने के पश्चात् राम मोहन राय की चित्त-वृत्ति ठिकाने आ गई होगी और आगे को वह कभी भूल कर भी माता-पिता के मत के विरुद्ध एक शब्द तक मुख से नहीं निकालेगा। किन्तु उनका यह विचार भ्रम मात्र था। पण्डित राम मोहन राय पहले ही की तरह अपने अटल विश्वास की चट्टान पर दृढ़तापूर्वक जमे रहे। आपके धर्म सम्बन्धी विचारों में बाल बराबर भी अन्तर न पड़ा था। जब कभी उचित अवसर पाते, आप अद्भुत साहसपूर्ण और बे रोक-टोक मूर्ति-पूजा तथा अन्यान्य दोषों युक्त प्रथाओं का विरोध और खण्डन करते रहते थे।

राजा जी का यह आचरण उनके पिता को नितान्त असह्य हो उठा। जिसका फल यह हुआ कि उन्हें एक बार फिर

घर से निकाल दिया गया। इस घटना के कुछ दिन पीछे उनके पिता का देहान्त हो गया। उनके धार्मिक विश्वास तथा विचारों के कारण उनकी माता भी उनके विरुद्ध थी। इस लिये अब उसने बड़ी चेष्टा की कि राम मोहन राय पैतृक धन-सम्पत्ति के उत्तराधिकारित्व से वञ्चित् रहे। राजा राम मोहन राय ने प्रौढ़ा-वस्था में एक जगह आप ही लिखा है—"मेरा विचार कभी भी हिन्दू धर्म पर आक्रमण करने का नहीं था और न मैं हिन्दू धर्म का विरोधी हूँ। हिन्दू धर्म के नाम से जो खोटी बाते प्रचलित हैं, मेरा वार उन्हीं पर होता है।"

दूसरी बार घर से निकाले जाने के समय से लेकर पिता की मृत्यु तक का कई वर्ष का समय आप ने काशी मे बिताया। यहाँ आप को हिन्दू शास्त्रों का अध्ययन करने का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ और संस्कृत भाषा की प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों की नकल करके किसी प्रकार अपना निर्वाह करते रहे। काशी में ही आप ने गृहस्थ जीवन आरम्भ किया। आपका पहला विवाह तब हुआ था, जब आप निरे बालक थे। उस बालिका की मृत्यु के अनन्तर नौ वर्ष की अवस्था में आप का दूसरा विवाह हो गया। अभी इसको पूरा एक वर्ष भी व्यतीत न होने पाया था कि एक विवाह और हो गया। आपके तो केवल दो ही तीन विवाह हुए, पर उन दिनों एक एक कुलीन ब्राह्मण के चालीस चालीस पचास-पचास तक विवाह हो जाना साधारण बात थी। अस्तु। सन् १८०१ ई० में आपका प्रथम पुत्र राधाप्रसाद उत्पन्न हुआ।

विशाल-आचरण, उदारचित्त राजा राममोहन राय से यह देखा सहा न गया कि पिता के धन से निर्वाह करें और उन्हीं के धार्मिक विश्वास तथा विचारो का आग्रह पूर्वक खण्डन और विरोध किया जाय। इसलिये आपने सन् १८०१ ई० में रंगपुर के कलेक्टर की कचहरी में नौकरी करली। उन दिनों वहां सुप्रसिद्ध भारत-हितैषी मिस्टर डिग्बी कलेक्टर के पद पर सुशोभित थे। राम मोहन राय जन्म-दिन से ही बड़े निडर और स्वतन्त्र-वृत्ति के थे। आप ने निधड़क उक्त साहब को कहा:—"यदि आप मुझ को नौकर रक्खें, तब आप को मुझे एक प्रतिज्ञा-पत्र इस आशय का लिखकर देना होगा कि जब मैं आप के पास किसी काम को आऊँ तो आप मुझे कुरसी देंगे और आप मेरे प्रति वैसा बर्त्ताव नहीं करेंगे, जैसा प्रायः कर्मचारियो के साथ होता है।" डिग्बी महोदय तुरन्त ताड़ गये कि यह व्यक्ति साधारण दिल-गुर्दे का मनुष्य नहीं है और उन्होंने दोनो शर्त्तों को सहर्ष स्वीकार कर लिया। थोड़े ही दिनो में आपकी असाधारण योग्यता तथा अन्य गुणों से डिग्बी साहब भली-भांति परिचित हो गये और वह उन पर ऐसे मुग्ध हुए कि जहां भी गये साथ ही लेते गये। राजा जी उन्नति करते-करते बहुत शीघ्र ही कलेक्टर के सरिश्तेदार हो गये। इस से उच्चतर पदों का द्वार उस समय भारतीयों के लिये बंद था।

सेवा-कार्य के आरम्भ से कुछ दिनो पहले, अर्थात् २२ वर्ष की आयु में आपने अंग्रेजी भाषा लिखना-पढ़ना सीखने का अभ्यास आरम्भ किया था। डिग्बी साहब की सहायता से

अब आप अँग्रेजी के निपुण विद्वान हो गये और अपनी "वेदान्त सार" नाम की पुस्तक उसी भाषा में रची। इस अवधि में भी आप जो सेवा देश वा जाति की कर सकते थे, उस से कभी पांव पीछे नहीं हटाते थे, और सहर्ष ऐसे पुण्य कार्यों में प्रवृत्त रहते थे। जिस पवित्र और उच्च उद्देश्य के लिये आप इस संसार में पधारे थे; रात-दिन, सोते-जागते, आप को उस का ध्यान बना रहता था। इन दिनों आप नित्य प्रति, सन्ध्या के समय अपने घर पर सभा लगा कर मूर्ति-पूजा की सारहीनता और अनुपयोगिता तथा ब्रह्मज्ञान की उपयोगिता और महत्व पर व्याख्यान दिया करते थे। उस समय भी आप लोगो के कोप-भाजन बनने से नहीं बच पाए थे। भला! किन्तु जिस महापुरुष को सृष्टि-कर्त्ता ने एक कार्य विशेष का सम्पादन करने के लिये जगत् में भेजा हो, वह भला किस प्रकार सदा के लिये नौकरी के कड़े बन्धनों में जकड़ा हुआ रह सकता है? परिणाम यह हुआ कि आपने निरन्तर तेरह वर्ष तक अत्यन्त मितव्ययिता पूर्वक जीवन व्यतीत कर के बहुत सा धन संग्रह कर लिया और सन् १८१२ ई० मे त्यागपत्र दे दिया। वहाँ से आप अपने घर चले आए और धार्मिक सुधार का कार्य आरम्भ कर दिया।

जो कोई सत्य की ध्वजा, धर्म का झण्डा, हाथ मे ग्रहण कर के जीवन के संग्राम-क्षेत्र में निकलता है, उस को क्या-क्या कष्ट-दुःख नही उठाने पड़ते? सृष्टि के आदि काल से ही ऐसा नियम चला आया है। सब लोग राम मोहन राय के कट्टर विरोधी

तथा द्वेषी बन बैठे और सब तरह उनके कार्य में बाधा-विघ्न डालने तथा उन्हें कष्ट देने लगे। किन्तु राजा जी ने उस ओर ध्यान तक नहीं दिया। न वह दुःखों-कष्टोंसे डरे न जनसाधारण के विरोध से घबराये। महापुरुष कठिनाइयों के महत्व को भली-भांति समझते हैं। वे उन से कभी नहीं घबराते, प्रत्युत जितनी ही कठिनाइयां बढ़ती जाती हैं, उतना ही उनका साहस तथा उत्साह भी बढ़ता जाता है। सफलता का मूल्य उन्हीं कठिनाइयों से आंका जाता है जो उस के मार्ग में उपस्थित हुई हों। संक्षेपतः राजा जी तन-मन-धन से अपने पुनीत जीवनोद्देश्य की पूर्ति में लगे रहे। माता भी उन्हें भ्रष्ट तथा नास्तिक समझने लगीं। उसने अनेक चेष्टाएँ कीं कि न्याय की दृष्टि से वह अपनी पैतृक धन-सम्पत्ति के उत्तराधिकारी न ठहरें, परन्तु सफल-मनोरथ न हो सकी। तब उस ने गांव के लोगों को भड़काया, उसकाया कि आओ, मिल कर राम मोहन को गाँव से निकाल दें।

यह दशा देख आपने स्मशान भूमि के निकट एक मकान बनवा लिया और उस में जा टिके। उसके सामने एक "उपासना मन्दिर" बनवाया। जिसके चारों ओर "ओ३म् तत्सत" और "एकमेवाद्वितीयम्" लिखा हुआ था। इसी बीच एक दिन उनकी धर्म-पत्नी उमा देवी जी ने पूछा, "सब से श्रेष्ठ धर्म कौन सा है?"

राजा जी ने उत्तर दिया—"गौएँ भिन्न-भिन्न वर्णों की होती हैं, किन्तु दूध सब का एक ही जैसा होता है। इसी प्रकार सभी

धर्मों, पन्थों तथा मतों की शिक्षा का सारांश यही है कि मनुष्य शुभ कर्म करे, शुभ मार्ग पर चले।"

अब आपने सोचा कि कलकत्ता चले जाने पर सब प्रकार की सुविधाये प्राप्त हो सकती हैं, इस कारण वहाँ जाकर प्रचार-कार्य आरम्भ करना चाहिये। पहले आप कुछ दिनो के लिये मुर्शिदाबाद ठहरे जहां आपने मूर्ति-पूजा के विरुद्ध अपनी सुप्रसिद्ध फ़ारसी रचना "तोफहतुलमोहदीन" लिखी। इस पुस्तक की खूब खपत हुई। राजा ज़ी के अनेक मित्र भी मूर्ति-पूजा करना छोड़ बैठे और उसकी रोक-थाम के लिये नित्य नये-नये उपाय सोचने लगे। इन बातो के कारण बहुत से लोग आपके शत्रु बन बैठे। यहां तक कि कुछेक गुण्डे इस परोपकारी महात्मा की हत्या तक कर डालने को उद्यत हो गये। अब आप कलकत्ता चले गये! माणिक टोला मे एक मकान मोल ले लिया और उसी में रहने लगे। यहाँ पहुँचकर आप बड़े परिश्रम तथा अध्यवसाय पूर्वक, तन मन-प्राण से, अपने जीवन के उच्च किन्तु महा कठिन व्रत के उद्यापन में लग गये।

राज राम मोहन राय ने अपनी अगाढ़ विद्वत्ता, अटल धार्मिक विचारों, अद्भुत प्रतिभा, असाधारण शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों और धन-सम्पत्ति की देश तथा जाति के सुधार के यज्ञ में बलि चढ़ा दी। ऐसे महान् त्याग के बिना ऐसे सुविशाल यज्ञ में सफलता प्राप्त करने की आशा करना दुराशा मात्र था। आप संसार की सभी प्रधान भाषाओं के

पूर्ण पण्डित और ज्ञाता थे, इस लिये प्रत्येक धर्म के सिद्धान्तों का, उन्हीं के धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा, पता लगा कर मूल-तत्व, सत्य तक पहुंच जाते थे। कलकत्ता पहुंच कर आपने मूर्ति-पूजा तथा अन्यान्य दोषपूर्ण प्रथाओं के विरुद्ध प्रकाश्य भाव से युद्ध-घोषणा कर दी। इस संग्राम में आप चार प्रकार के पैने और जोरदार शस्त्र-अस्त्रों का प्रयोग करने लगे, वार्त्तालाप-वाद-विवाद, स्कूल और पाठशालाएँ स्थापित करना तथा सभाएँ बनाना।

ब्रह्मज्ञान के प्रचार के लिये आपने बङ्गाली भाषा में वेदान्त सूत्र की व्याख्या लिख कर छपाई और सब को बिना मूल्य बांटी। इसके अनन्तर शीघ्र ही उक्त पुस्तक के हिन्दी तथा अंग्रेजी अनुवाद भी तैयार हो गये। फिर उन्होंने "वेदान्त सार", "वेदान्त प्रवेश", उपनिषदों इत्यादि का अनुवाद करके देश के एक छोर से दूसरे छोर तक धर्म की धूम मचा दी। उनके इस नवीन मत की ज्योति से दसों दिशाएँ प्रकाशमान् हो उठीं। सनातन धर्मावलम्बियों की ओर से सुयोग्य विद्वान् सुब्रह्मण्य शास्त्री तथा शङ्कर शास्त्री राजा जी से शास्त्रार्थ करने के लिये आये। किन्तु उनके प्रगाढ पाण्डित्य, अथाह ज्ञान तथा अकाट्य युक्तियों के सामने उनकी एक न चल पाई। ब्रह्म-धर्म का प्रचार करने के लिये राजा जी ने अनेक पुस्तकें रचीं और जनता के विरोध की कुछ भी पर्वाह नहीं की। वे बड़े उत्साह से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे।

इसी वर्ष अपने मित्रों की सहायता से आपने कलकत्ता नगर में "आत्मीय सभा" स्थापित की, जिसका अधिवेशन प्रति सप्ताह होता था। वहाँ धर्म सम्बन्धी विषयो पर व्याख्यान होते और भजन तथा गीत गाये जाते थे। हिन्दू धर्म, बौद्ध मत तथा दीन इस्लाम के सिद्धान्तो का पारायण तो आप पहले ही कर चुके थे, अब आपकी इच्छा ईसाई मत का अध्ययन करने की भी हुई। आप बाइबिल पढ़ने लगे और इब्रानी तथा यूनानी भाषाएँ भी सीखी। जिससे बाइबिल के प्रकृत अर्थ और तात्पर्य के समझने मे सुविधा रहे। कारण, बाइबिल की रचना पहले पहल उन्ही भाषाओं मे हुई थी। अन्त को जब ईसा-प्रचारित धर्म का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर चुके, तब बाइबिल के कतिपय अंश उद्धृत करके "ईसा के आदेश" नामक एक छोटी सी पुस्तक रची। इस पुस्तक मे केवल हजरत ईसा के आदेश तथा उपदेश ही थे, किन्तु उन चमत्कारो का कही भी वर्णन नहीं किया गया था जो बाइबिल में दिये हुए हैं। परिणाम यह हुआ कि अनेक कट्टर ईसाइयो ने इस पुस्तक को बहुत बुरी दृष्टि से देखा।

श्रीरामपुर के पादरियो ने अपनी "भारत मित्र" नाम की पत्रिका में बड़ी बुरी तरह से इसकी समालोचना की, और राजा जी को मुक्तकण्ठ से और भरपेट खरी-खोटी सुनाई। इसके प्रत्युत्तर में उन्होने "ईसाई जनता से निवेदन" नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की। इसके पश्चात् "ईसाइयो से दूसरा निवेदन" और "ईसायो के प्रति तीसरा निवेदन" ये दो पुस्तिकाएँ और भी

प्रकाशित कराईं। इनमे ईसाई धर्म के कुछेक सिद्धान्तों का खंडन किया गया था और उनके विषय में पादरियों ने जो जो युक्तियां दीं थीं, उनका मुँहतोड़ प्रतिवाद किया गया था। इनके अतिरिक्त उन्होने और भी कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी, जिनमे ईसाई मत तथा हिन्दू धर्म के अनेक दोषो का दिग्दर्शन कराया गया था। राजा राममोहन राय की असाधारण योग्यता की सर्वसाधारण के हृदयो पर छाप लग गई और दूर तथा निकट सब जगह आप की कीर्ति फैल गई।

इसके अनन्तर सन १८२८ ई० के अगस्त मास में राजा जी ने एक भाड़े के मकान में "ब्राह्म समाज" की स्थापना की। उसके बहुत दिन पूर्व, जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, आपने "आत्मीय सभा" के नाम से एक संस्था स्थापित की थी, किन्तु अनेक विघ्न बाधाओ का सामना करने में असमर्थ होने से वह बन्द हो गई थी। उसी के अधिकांश सभ्य ब्राह्म समाज के मेम्बर थे। दो वर्ष पीछे ब्राह्म समाज के लिये एक विशाल भवन बन कर तैयार हो गया और वहीं उसके अधिवेशन होने लगे। ब्राह्म-समाज मन्दिर २३ जनवरी, सन् १८३० ई० को बन-भना कर तैयार हुआ। उस दिन देशी तिथि ११ माघ थी। यही कारण है कि उसी शुभ तिथि को सारे भारतवर्ष में ब्राह्म समाज की स्थापना का उत्सव मनाया जाता है।

ब्राह्म समाज तथा मन्दिर की स्थापना के मुख्य उद्देश्य तथा नियम निम्नलिखित निश्चित हुए थे :—

१—इस मन्दिर में सृष्टि-कर्त्ता, निराकार परमेश्वर की ही उपासना होगी।

२—इस मन्दिर में किसी प्रकार के जाति-पाँति के भेद-भाव के बिना, सब को आकर निराकार परमेश्वर की उपासना करने का अधिकार प्राप्त होगा।

३—इसमे किसी भी धर्म, मत वा सम्प्रदाय के उपास्य देव की व्याख्यान-भाषण-भजन-कीर्तन वा लेख द्वारा निन्दा नहीं की जायगी।

४—इसमें बकरा इत्यादि वस्तुओं की बलि नहीं चढ़ाई जायगी।

५—किसी भी प्रकार के चित्र, मूर्त्तियां वा फोटो यहाँ नहीं रक्खे जायगे। इत्यादि।

ब्राह्म समाज की स्थापना का मुख्य उद्देश्य एक, अद्वितीय, ब्रह्म की उपासना का प्रचार करना था।

राजा राममोहन राय एक मात्र धर्म-सुधारक ही हों, सो बात नहीं है। आप बड़े भारी जाति-सुधारक भी थे। उन्होंने जितना धार्मिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सुधार-कार्य किया है, उसे भली-भांति समझने तथा विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिये ऐसी ऐसी तीन पुस्तकें भी पर्याप्त न हो सकेंगी। इस क्षेत्र में आपने कितना बहुतसा और कैसा महत्वपूर्ण तथा उपयोगी कार्य कर दिखाया है, उसका ठीक-ठीक अनुमान करना भी असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर अवश्य है। सब से पहला

सामाजिक सुधार जो आपके द्वारा हुआ, वह सती प्रथा का न्याय-विधान द्वारा बन्द कराना था। यह प्रथा भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से चली आती थी, इसका बन्द करना कोई सहज कार्य न था। जिन दिनो राजा जी तिब्बत मे थे, उस समय वहाँ की स्त्रियों ने आपके प्रति जो सौजन्यता तथा सहानुभूति-पूर्ण बर्त्ताव किया था, उसने आपके मन पर इतना प्रभाव डाला कि उन्होंने तभी मन ही मन यह प्रतिज्ञा करली थी कि मैं शरीर मे प्राण रहते स्त्री जाति के सुधार, उन्नति तथा उसको उपकार करने मे कभी विमुख न हूँगा। जब उनके ज्येष्ठ भ्राता का देहान्त हुआ, उस समय उन्होने अपनी भाभी को बहुत समझाया और कहा कि सती न हो, पर वह न मानी। किन्तु जब वह चिता पर बैठाई गई, तो बहुत घबराई और रोने-चिल्लाने लगी। प्राणों का मोह बुरा होता है। उसने निकल भागने के लिये अपनी ओर से कोई उपाय उठा न रक्खा, किन्तु सगे-सम्बन्धियों ने मार-मार कर उसे नीचे नीचे बिठा दिया और उठने न दिया और ढोल तथा झाँझ जोर जोर से बजाने लगे। निरअपराध अबला की चीखें उन्ही के हो-हुल्लड़ में विलीन हो गई।

राजा राममोहन राय ने इस सर्वथा अनुचित तथा अन्याय-संगत कार्यवाही का यथाशक्ति विरोध किया, किन्तु उन की एक न चल पाई। अन्त को आप ने अपने मन मे यह ठान लिया कि जब तक इस निन्दनीय प्रथा को समूल नष्ट नहीं करा दूँगा, सुख का साँस न लूँगा और हुआ भी ऐसा ही। मुगल-सम्राट अकबर

ने इस प्रथा के रोक-थाम की चेष्टा की थी, किन्तु वह सफल-मनोरथ न हो सका। राजा राम मोहन राय ने सती-प्रथा के विरुद्ध कई एक पुस्तकें लिखी और प्रमाण दे दे कर यह सिद्ध कर दिखाया कि शास्त्रों के मत के अनुसार यह नितान्त अनावश्यक है कि स्त्री-पुरुष की चिता पर बैठ कर भस्म हो जाय। आप ने केवल इसी पर बस नहीं किया, प्रत्युत भारत-सरकार की सेवा में भी एक आवदेन-पत्र इस आशय का भेजा कि सतीप्रथा को अन्यायोचित तथा अवैध ठहराया जाय। अन्त को भारत के गवर्नर जनरल लार्ड विलियम वेन्टिङ्क ने सती प्रथा को बन्द कर दिया और सन १८२९ ई० में इस के विरुद्ध कानून भी जारी हो गया। इस महोपकारी सुधार के लिये भारत का स्त्री-समाज आपके प्रति सदा ही कृतज्ञता का भाव दिखाता रहेगा।

राजा जी स्त्री शिक्षा तथा विधवा-विवाह के बड़े पक्षपाती और सहायक थे। आप के मतानुसार स्त्रियां मानसिक योग्यता तथा बल में कदापि पुरुषों से हेठी नहीं होतीं और यदि उन्हें समुचित शिक्षा-दीक्षा प्रदान की जाय, तब उनके द्वारा इस अभागे देश तथा जाति का अनन्त कल्याण हो सकता है। राजा राम मोहन राय जाति-पाँति के भेद भाव के कट्टर विरोधी थे और उन्होने हिन्दू जाति के उज्ज्वल मस्तक से इस कलंक को दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न किया।

देश को अविद्या के गहन अन्धकार से निकालने तथा विद्या-रूपी सूर्य का प्रकाश फैलाने में जितना प्रयत्न राजा राम मोहन

राय ने किया कदाचित् ही किसी नररत्न ने किया है। इस सम्बन्ध में आपकी बहुमूल्य सेवाओं की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है और जितना भी उपकार माना जाय उचित ही है। आप ने अनेक पाठशालायें तथा स्कूल स्थापित किये, तथा दूसरे लोगों का भी इन पुण्य कार्यों में हाथ बटाया। उन दिनों देश मे यह कठिन समस्या उपस्थित थी कि भारत-निवासियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय। संस्कृत, अरबी तथा फारसी भाषाओं की शिक्षा पर जोर दिया जाय, अथवा अँग्रेज़ी सिखाने पर। बहुत से लोगों की धारणा यह थी कि हिन्दुस्तानियों को विदेशी भाषा सीखने का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। हिन्दू संस्कृत पढ़ें और मुसलमान अरबी तथा फारसी सीखें। उस समय बहुमत यही था।

दूसरे दल का मत यह था कि संस्कृत, फारसी तथा अरबी की शिक्षा तो दी ही जाय, साथ ही यदि हम भारत तथा भारतीयों के कल्याण और उन्नति की कामना करते हैं, तो भारतवासियों को अँग्रेज़ी भाषा की शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। राजा जी भी अँग्रेज़ी शिक्षा के पक्षपाती थे। बहुत दिनो वाद-विवाद चलता रहा, बड़ा झगड़ा हुआ। राजा महोदय ने लाट साहब की सेवा में इस आशय का एक पत्र लिखा कि केवल संस्कृत, अरबी अथवा फारसी भाषा का ज्ञान प्राप्त करने अथवा उसके साहित्य के अवगाहन से इस समय भारतीयों को कुछ भी लाभ पहुंचने की सम्भावना नहीं है। हां, अँग्रेज़ी भाषा तथा साहित्य का अध्ययन हमारा बहुत कुछ उपकार कर सकता

है। कारण, यह हमारे लिये पाश्चात्य विद्याओं तथा कलाओं का द्वार खोल देगा। इसी प्रकार की और भी अनेक बातें आपने अपने इस पत्र में लिखी थीं।

राजा राम मोहन राय के इस सारगर्भित तथा युक्ति-युक्त विद्वत्ता-पूर्ण लेख का उच्चपदाधिकारियों पर उचित प्रभाव पड़े बिना न रहा। फल यह हुआ कि विजय माला उन्हीं की पार्टी के गले पड़ी और भारतवर्ष में अंग्रेजी शिक्षा की नींव डाल दी गई। आज देश में चारो ओर कालेजों, स्कूलों तथा अनेक ढंग के अनेक विद्यालयों का जो एक जाल सा बिछा हुआ है, जिन में पूर्वीय भाषाओं के अतिरिक्त पश्चिमीय भाषाओं, विद्याओं तथा कलाओं की भी शिक्षा दी जाती है, वे सब राजा जी की अथक चेष्टाओं का मूर्त्तिमान् परिणाम हैं। उनसे बढ़ कर देश तथा जाति का हित-चिन्तक और कौन होगा? आपने अनेक स्कूल और एक कॉलेज खोलने में आर्थिक सहायता प्रदान की, तथा एक अंग्रेजी स्कूल निजी व्यय से भी स्थापित किया।

बङ्गाली साहित्य का तो यदि आप को पिता कहा जाय, तो कुछ अनुचित न होगा। आप से पहले बङ्गाली भाषा की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। आप जीवन पर्यन्त बङ्गभाषा तथा साहित्य की बहुमूल्य सेवा करने में लगे रहे। आपने व्याकरण, भूगोल रेखा गणित इत्यादि अनेक उत्तम और सुपाठ्य पुस्तकों की रचना की और अनवरत परिश्रम तथा अध्यवसाय के द्वारा बङ्ग भाषा

को इस योग्य बना दिया कि वह सब प्रकार के विचार प्रकट करने का साधन बन सके। यदि आप इस को छोड़ अन्य कोई भी सेवा देश वा जाति की न करते, तब भी आपका नाम अमर हो जाता और आप कीर्त्तिरूपी आकाश पर सूर्य की भाँति प्रकाशमान रहते।

भारतीय पत्र-सम्पादन-कला के क्षेत्र में पहले पहल डग मारने का गौरव और यश भी राजा राम मोहन राय को ही प्राप्त हुआ। उन्होंने एक मुद्रणालय स्थापित किया और एक पत्रिका अँग्रेजी भाषा मे "ब्रह्मणीकल मैगेजीन" के नाम से प्रकाशित करना आरम्भ की। इसके बाद सन् १८२१ ई० में एक बङ्गाली साप्ताहिक पत्र "संवाद कौमुदी" जारी किया। इस के कुछ काल अनन्तर आपने फारसी भाषा में एक सप्ताहिक समाचार पत्र निकाला और उसका नाम रक्खा "मिरातुल अखबार"। इन दोनों पत्रों के द्वारा जनता को यथेष्ट लाभ पहुँचा, किन्तु दुर्भाग्य-वश उन्हीं दिनो प्रेस की स्वतन्त्रता का गला घोंट डाला गया और आप को विवश तथा निरुपाय हो दोनो ही पत्र बन्द कर देने पड़े।

राजा राम मोहन राय ने प्रेस एक्ट के विरुद्ध पहले गवर्नमेन्ट को लिखा। फिर सुप्रीम कोर्ट से लिखा पढ़ी की, किन्तु जब दोनों जगह असफलता का मुह देखना पड़ा, तब फिर एक बड़ा जोरदार और युक्ति-युक्त आवेदन-पत्र अत्यन्त आदर-सूचक तथा विनय-भाव पूर्ण शब्दों में लिखकर इङ्गलैंड के सम्राट् की सेवा में भेजा। किन्तु खेद! घोर निराशा और असफलता के सिवा वहां से भी कुछ

हाथ नही लगा। पर कुछ ही हो, आपका परिश्रम व्यर्थ नहीं गया। जो पेड़ उन्हों ने प्रायः सौ वर्ष हुए पत्र-सम्पादन-कला के क्षेत्र में रोपा था, वह आज खूब फूल-फल रहा है। आज देश में सैंकड़ो दैनिक और साप्ताहिक पत्र तथा सहस्रों पत्रिकाएं तथा पत्र सभी विषयों को लेकर स्वतन्त्रता तथा निर्भयता पूर्वक अपना मत प्रकट करते हैं।

राजा राममोहन राय ने कन्या-विक्रय, कन्या-हत्या तथा बाल-विवाह की निन्दनीय प्रथाओं का असाधारण साहस तथा बलपूर्वक विरोध किया। राजा जी को सदा ही इस बात की चिन्ता लगी रहती थी कि देश की, विशेषतः "नर की खानि" नारी जाति की दशा को कैसे सुधारा और उत्तम बनाया जाय। आपने एक पुस्तिका इस विषय पर लिखी कि पति की मृत्यु के पश्चात पत्नी को उसकी सम्पति का थोड़ा बहुत अंश अवश्य ही मिलना चाहिये। उन दिनों बङ्गाल देश में एक से अधिक विवाह करने की निन्दनीय प्रथा का अत्यधिक प्रकोप था; विशेषतः कुलीन ब्राह्मणों में। यह भी स्त्री जाति के प्रति घोर अत्याचार तथा घोरतर अन्याय था। राजा जी के सुकोमल हृदय पर यह कड़ी चोट लगती थी। आपने इस प्रथा की मुक्तकण्ठ से निन्दा की, इसका तीव्र प्रतिवाद किया तथा इसके विरुद्ध बहुत कुछ लिखा भी। यहाँ तक कि अपनी वसीयत में यह स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि यदि मेरा पुत्र अथवा अन्य उत्तराधिकारी एक से अधिक विवाह करेगा, तो मेरी सम्पत्ति को पाने के अधिकार से वञ्चित रहेगा।

आपने अपने देश-बन्धुओं की राजनैतिक दशा सुधारने के लिये भी भारी प्रयत्न किया। आपकी यह बलवती इच्छा थी कि भारतवासियों को उनके जन्मसिद्ध अधिकार तथा न्यायोचित राजनैतिक स्वत्व प्रदान करने में अनुदारता न दिखाई जाय। आप स्वाधीनता के पुजारी थे और एक मात्र अपनी जन्मभूमि को ही नही, वरन् ससार के सभी देशो को पूर्णतया स्वतन्त्र तथा सम्पन्न देखने के इच्छुक थे। बड़े-बड़े राजनैतिक नेता आपके सुचिन्तित तथा सुपरिपक्व विचारो का लोहा मानते हैं। चिरकाल पहले ही आपने पार्लियामेन्ट पर उन सभी देश-सम्बन्धी सुधारों की आवश्यकता भलीभांति प्रकट कर दी थी, जिन पर अब इण्डियन नेशनल कांग्रेस तथा देश के अग्रगण्य नेता जोर दे रहे हैं, जैसे न्यायालयो में सुधार, भारतीयों को उच्च पद प्रदान किया जाना, ज्यूरी पद्धति का हिन्दुस्थानियों के अभियोगो मे बर्ता जाना, न्याय तथा शासन-विभागो का एक दूसरे से अलग किया जाना, कानून-आईन बनाने में भारत-वासियो की सम्मति प्राप्त करना, फारसी की जगह न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी नियत करना, देशी मिलीशिया स्थापित करना, स्थायी बन्दोबस्त, छोटी उम्र के सिविलियनों को भारत में भेजने के दोष, इत्यादि।

राजा जी की चेष्टाओं तथा सुधारो का कहां तक वर्णन किया जाय! कौन सा ऐसा दोष है जिसके समूल नष्ट करने में राजा जी ने प्रयत्न न किया हो। और वह कौनसा शुभ तथा उपकार

का कार्य है जिसके प्रचार तथा प्रसार मे आपने तन, मन, प्राण से योग न दिया हो! आज राजा जी की चेष्टाएं फल ला रही हैं और अपने तथा पराये सुयोग्य विद्वान् और गण्यमान्य नेता-गण मुक्तकण्ठ से आपकी प्रशंसा कर रहे हैं और यह कहने से नहीं चूकते कि ऐसे-ऐसे महापुरुष संसार में प्रायः बहुत ही थोड़े आते हैं।

नवम्बर सन् १८३० ई० में दिल्ली के अन्तिम मुग़ल-सम्राट बहादुरशाह ने जो अब नाम मात्र को ही बादशाह रह गया था, अपनी बहुतसी शिकायतें तथा असुविधाएँ दूर कराने के अभि-प्राय से पण्डित राममोहन राय को 'राजा' की उपाधि से सम्मा-नित कर तथा अपना राजदूत बना कर इङ्गलैण्ड के सम्राट् की सेवा में भेजा। सन् १८३१ ई० के ऐप्रिल मास में आप वहां पहुँचे। आपकी कीर्त्ति आप से भी बहुत पहले वहां जा पहुँची थी, इस कारण आपका खूब ही आदर-मान हुआ। आपने बोर्ड आफ कन्ट्रोल के सम्मुख गवाही दी और भारत की प्रकृत दशा का चित्र खींच कर दिखाया। दो-एक पुस्तकें भी आपने भारतवर्ष के राजनैतिक मामलों के सम्बन्ध में लिख कर प्रकाशित कराई।

आप फ्रान्स भी पधारे और कुछ दिनों उस देश मे भ्रमण कर पुनः इङ्गलैण्ड मे लौट आये। उक्त दोनो देशों के कीर्तिशाली विद्वानों ने आपको सिर आंखों पर बिठाया और आपकी असा-धारण योग्यता, अद्वितीय प्रतिभा, अगाढ़ पाण्डित्य, कार्य करने

की निःसीम शक्ति, उदारता, शुद्धाचरण, वाक्-पटुता, रचना-चातुर्य तथा युक्ति-कौशल देख कर मुग्ध हो गये। ११ सितम्बर सन् १८३३ ई० को ब्रुस्टल नगर में एक विराट् सभा हुई, जिसमें आपके दर्शन करने और आपसे परिचय पाने का गौरव प्राप्त करने के लिये इङ्गलैण्ड के अनेक बड़े-बड़े आदमी पधारे। १६ सितम्बर को फिर एक सभा हुई, जिसमें राजा जी ने अंग्रेजी भाषा मे लगातार तीन घन्टे तक धोरावाही और बड़ा ही रोचक तथा प्रभावशाली व्याख्यान दिया। जिसने भी सुना, वही अवाक् रह गया। १९ सितम्बर को आपको ज्वर हो आया। बहुतेरी चिकित्सा कराई गयी, अनेक सुयोग्य तथा अनुभवी डाक्टर बुलाए गये, परन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुए। आप जिस महान् उद्देश्य को लेकर इस संसार में आये थे, वह पूरा हो चुका था, इस लिये २७ सितम्बर सन् १८३३ ई० को पूर्व का यह उज्ज्वल तारा पश्चिम में डूब गया!

आप उन दिनों मिस कील के यहां टिके हुए थे। उन्हीं के चौगान में १८ अक्टूबर सन् १८३३ ई० को हिन्दू अथवा ईसाई धर्म के किसी संस्कार के बिना ही, आप चुपचाप गाड दिये गये। सन् १८४२ ई० में जब बाबू द्वारका नाथ ठाकुर इङ्गलैण्ड गये, तब उन्होने राजा जी का तावूत वहाँ से उठवा कर ब्रिस्टल में दफन कराया और उसके ऊपर पूर्वीय ढंग का एक सुन्दर और विशाल भवन भी बनवाया। सन् १८७२ ई० में आप की समाधि पर एक लेख अङ्कित कराया गया जिस में आप के जन्म तथा

मृत्यु की तिथि दी गई थी और यह भी लिखा गया कि आप कैसे सुयोग्य तथा प्रतिभाशाली विद्वान और उदार-चरित्र महापुरुष थे और उन्होंने भारतवासियोंपर कैसे-कैसे अनेकानेक उपकार किये थे।

राजा जी वास्तव में महापुरुष थे। आप मूर्तिमय प्रेम थे। अपने कट्टर से कट्टर विरोधी के साथ भी विनम्र भाव तथा प्रेम-पूर्ण वार्त्तालाप करते थे बल्कि सच्ची बात तो यह है कि वह किसी को भी अपना वैरी अथवा द्वेषी नही जानते थे। वह किसी को भी दुःख वा विपत्ति में फँसा नहीं देख सकते थे। अहम्मन्यता, घमण्ड वा गर्व तो उन को छू भी नहीं गया था। इस बात के अनेक उज्ज्वल दृष्टान्त आप के जीवन-चरित्र में देखने को मिलते हैं। राजा राम मोहन राय मे सब से बड़ा गुण यह था कि वह किसी भी मत वा सम्प्रदाय के उपास्य देव वा स्थापयिता अथवा उस के धर्म-ग्रन्थो की कभी निन्दा नहीं करते थे, वरन् सदा ही बड़े आदर पूर्वक उनका नाम लेते थे।

आप जो कुछ मुख से कहते, उसे पूरा कर दिखाते थे और अपनी धुन के ऐसे पक्के थे कि किसी कार्य को हाथ में लेकर तब तक नहीं छोड़ते थे, जब तक उसे पूरा न कर डाले। आपका उत्साह अदम्य और साहस असाधारण था। कड़ी से कड़ी विपत्ति भी उन्हे कर्तव्य-मार्ग से एक पग भी इधर-उधर नही कर सकती थी। उन्हें न्याय-पथ से विचलित करने की शक्ति किसी में भी नही थी। दया, उदारता तथा विनयशीलता जैसी उनमें पाई जाती थी, बहुत ही थोड़े लोगो मे देखने में आती है।

आप की प्रकृति में वीरता तथा निर्भयता कूट-कूट कर भरी हुई थी। परमेश्वर को छोड़ आप अन्य किसी से नहीं डरते थे। एक बार लार्ड विलियम बेन्टिङ्क ने जो उन दिनों भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल थे, सती-प्रथा की रोक थाम के सम्बन्ध में आप से परामर्श लेना चाहा और आप को बुलवा भेजा। आपने उत्तर दिया कि अब मैं ने उच्चपदाधिकारीवर्ग के सन्मुख उपस्थित होना छोड़ दिया है और रात-दिन धर्म-चर्चा में लगा रहता हूँ, इस कारण कृपा पूर्वक मेरी अनुपस्थिति क्षमा कर दी जाय।

जब यह उत्तर गवर्नर-जनरल महोदय ने सुना तो अपने अरदली से पूछा—"तुमने जाकर कहा क्या था ?"

उसने उत्तर दिया—"हुजूर! मैंने यह कहा था कि भारत के गवर्नर-जनरल, हुजूर लार्ड विलियम बेन्टिङ्क साहब, आप को स्मरण करते हैं।"

यह सुन सज्जन गवर्नर-जनरल साहब बोले—"नहीं, अब के फिर जाओ और निवेदन करो कि मिस्टर विलियम बेन्टिङ्क बड़े ही प्रसन्न और अनुगृहीत होंगे यदि आप कृपापूर्वक एकबार उनसे भेंट करने का कष्ट करेंगे।"

यह विनम्र भाव देखा तो आप लाट महोदय से मिले बिना न रह सके।

बड़े से बड़े प्रलोभन भी आपको धर्म-पथ-भ्रष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकते थे। एक बार जिन दिनों ईसाइयों से छेड़-छाड़ चल रही थी, कलकत्ता के लाट पादरी डॉक्टर मिडिलटन ने आपको

आमन्त्रित कर बातों-बातों में कहा कि यदि आप ईसाई मत स्वीकार करले तो आप के लिये धन-मान, यश और कीर्ति का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो जायेगा। राजा जी को यह बात बुरी लगी। आप उसी क्षण वहां से उठ कर चले आए और फिर कभी पादरी महोदय का मुँह न देखा। आप अपने नियम-पालन के बड़े पक्के थे।

आपका हृदय अत्यन्त उदार और विशाल इतना था कि सारा ब्रह्माण्ड उसमें समा सकता था। हिन्दू आप के लहू के प्यासे हो रहे थे और जैसे भी बन पड़ता था, आपको कष्ट देने और सताने का एक भी अवसर हाथसे नहीं जाने देते थे। तथापि आप अपने कार्य में जुटे रहते और विरोधी दल की अनुचित चेष्टाओं की ओर ध्यान तक भी न देते थे, बल्कि अपने विपक्षियों के अपराधों को शुद्ध अन्तः करण से क्षमा करके अपनी असाधारण उदारता का परिचय देते रहते थे। आप बड़े ही सुशील स्वभाव, सज्जन, शिष्टाचार-सम्पन्न, निष्कपट, मिलनसार तथा दयालु स्वभाव थे और दुर्बलों तथा अत्याचार-पीड़ितो की सहायता के लिये सदा ही तन, मन, धन से तत्पर रहते थे। एक दिन उन्हों ने सुन पाया कि उनके पुत्र बाजार के दुकानदारों से चुङ्गी उगाह रहे हैं। आपने तुरन्त उन्हे बुला भेजा और कहा—"देखो! ये गरीब लोग थोड़ी सी वस्तुएँ ख़रीद-बेच कर किसी प्रकार अपना निर्वाह करते हैं, उन पर ऐसा अत्याचार कभी न करना चाहिये।"

बंगाल के सुयोग्य सपूत रमेशचन्द्र दत्त ने आप को "युग-प्रवर्तक" की उपाधि प्रदान की थी और आधुनिक युग वास्तव मे "राममोहनराय का युग" कहलाता है। समस्त भूमण्डल के अग्र-गण्य विद्वानो ने आपकी असाधारण योग्यताओ की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। प्रोफेसर मैक्समूलर ने लिखा है—"राम-मोहन राय असली राजकुमार और प्रकृत राजा थे।"

पश्चिम के एक अन्य विद्वान का मत है—"भूत अथवा वर्त-मान् काल मे कोई महापुरुष उस सरीखा हुआ हो या है, इस मे सन्देह है।"

राजा राम मोहन राय की शिक्षा।

ब्रह्म-समाज के अधिष्ठाता तथा संस्थापक राजा राममोहनराय के मन मे किसी भी मतअथवा सम्प्रदाय के प्रति लेश मात्र भी धर्मान्धता वा द्वेष भाव नही था। जिस धर्म तथा समाज की नींव आप ने डाली, उसकी शिक्षा का सारांश यही है कि सत्य जहां से भी मिले उसको ग्रहण कर लेना चाहिये। आपका आदेश है कि सभी मतो, धर्मों तथा सम्प्रदायों का समुचित आदर करो। और परमात्मा को सर्व-गुणमय जान उसी की उपासना करो, और प्रत्येक धर्म के सिद्धान्तो के मूल तत्व का जो बुद्धि-विवेक की कसौटी पर पूरा उतरे जगत् मे यथाशक्ति प्रचार करो और झूठी बातों और विवेकहीन अंध-विश्वास को समूल नष्ट करने मे अपनी ओर से कोई बात उठा न रक्खो।

आप मनुष्य मात्र को भाई जानते और जाति-पाँति के भेद-भाव के कट्टर विरोधी थे। आप प्रेम तथा भ्रातृभाव का प्रचार करते थे। आप का प्रेम सचमुच ही विश्व-व्यापी था। वह छोटे, बड़े, गरीब, अमीर, अपने, पराये, सभी को भाई कह कर सम्बोधन करते, सभी को बराबर जानते और यही शिक्षा देते कि सभी धर्मों, मतो अथवा सम्प्रदायों के उपास्य देवों, गुरुओं और स्थापयिताओं तथा उन के धर्म-ग्रन्थों का आदर-सत्कार करो। आप का एक असाधारण गुण और बहुत बड़ा महत्व यह था कि आप कभी किसी मत वा सम्प्रदाय के उपास्य देव वा धर्म-ग्रन्थ का निरादर वा अपमान नहीं करते थे, वरन् उनको सदा ही आदर तथा सन्मानपूर्वक स्मरण करते थे।

ब्रह्म समाज तथा मन्दिरों की स्थापना के उद्देश्यों तथा नियमो मे यह स्पष्ट ही लिखा था कि उस में किसी धर्म वा मत के उपास्य देव की भाषण, लेख अथवा भजन-कीर्त्तन द्वारा कभी भी निन्दा नहीं की जायगी।

परस्पर प्रेम तथा सहिष्णुता की इस से बढ़िया शिक्षा आप को और कहाँ मिल सकती है ?



[९]

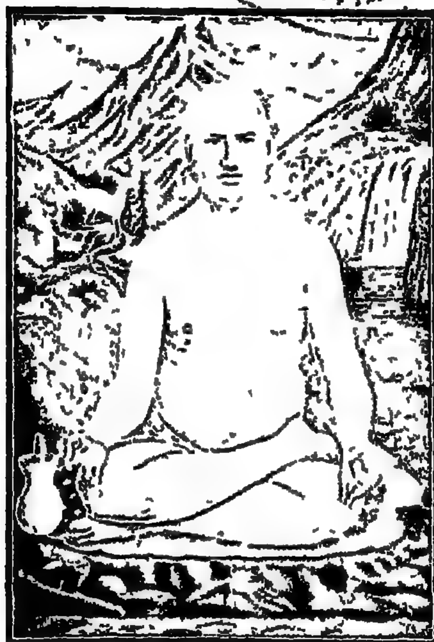
महर्षि दयानन्द सरस्वती।

स्वामी दयानन्द का जन्म सम्वत् १८८१ विक्रमी में, भारत के पश्चिम मे मोरवी राज्य (गुजरात प्रान्त) के अन्तर्गत टंकारा नगर में हुआ था। आप का जन्म-नाम मूलशङ्कर था। उनके पिता कृष्ण जी तिवारी बड़े जमीदार थे और जमादार भी, अर्थात सरकारी लगान का रुपया भी वही उगाहा करते थे। इस पद को तहसीलदारी के बराबर जानना चाहिए।

कृष्णजी शिव जी के श्रद्धालु भक्त थे। इस कारण वह मूलजी के आगे शिव जी का खूब गुण-गान और कीर्ति-बखान किया करते। फल यह हुआ कि बालक मूलजी के हृदय में भी शिव जी के प्रति अनंत श्रद्धा उत्पन्न हो आई। जब मूलशङ्कर चौदह वर्ष के हुए तो पिता ने सोचा कि अब उसे शिव-रात्रि का व्रत रखना चाहिए। ममता की मारी माता ने कहा, यह अबोध बालक है। सारा दिन रात भूखा-प्यासा रहने तथा रात भर जागने के कष्ट इससे उठाए न जाएँगे। परन्तु मूलशङ्कर ने आप ही व्रत रखने की इच्छा प्रकट की, और उल्लास तथा उमग के साथ पिता के सग शिव-मन्दिर में चले गए।

आधी रात होते न होते एक एक करके सभी पुजारी तथा शिव-भक्त निद्रा देवी की गोद मे चले गए। थोड़ी देर पीछे कृष्ण

महापुरुषोंके दर्शन



स्वामी दयानन्द सरस्वती

GITA PRESS, GORAKHPUR

ने भी लम्बी तान ली। किन्तु मूलजी की आँखो में नींद न
। वह सोचते थे, शिवजी को प्रसन्न करने का यह जो अमूल्य
सर प्राप्त हुआ है इसे क्यो हाथ से गँवाऊँ? इसी बीच में वह
ते क्या हैं कि एक चूहा अपने बिल से निकला और पुजारियों
द्यमान शिव-लिंग की परिक्रमा कर उसके ऊपर जा चढ़ा, और
ड़क फल, फूल, अक्षत इत्यादि चट करने लगा। यह अद्भुत
र अनहोना दृश्य देखा, तो मूलशंकर के हृदय मे शङ्काओं का
ार उमड आया—"क्या यह वही शिवजी हैं जो अखिल ब्रह्मा-
के स्वामी हैं? यह तो आप क्षुद्र जन्तुओं से अपनी रक्षा नहीं
र पाते. फिर भला संसार की रक्षा क्योकर करते होंगे?" जब
ाप कुछ भी निर्णय न कर सके, और शङ्काओं तथा सशयों
उनके मनोराज्य मे उथल-पुथल मचादी, तब पिता को जगाया
ौर समस्त वृत्तांत उनकी सेवा में निवेदन किया। वह मूलजी पर
हुत बिगड़े पर शङ्का-समाधान तो बहुत दूर की बात है, कोई
न्तोष-जनक उत्तर तक भी न दे सके। मूल शङ्कर जी चुप चाप
र लौट आए और व्रत भङ्ग कर भोजन कर लिया। आपने
ोचा—"ऐसे शिव की उपासना और पूजा से कुछ भी लाभ होने
ी संभावना नही है, सच्चे शिव की खोज करनी चाहिये।"

जब वह सोलह वर्ष के हुए, तो उनकी एक प्यारी बहन जिसकी आयु चौदह वर्ष की थी चार ही पांच घन्टो मे कराल काल के गाल मे चली गई। घर भर फूट फूट कर रो और विलाप कर रहा था, परन्तु मूल जी के सिर पर वही शिव जी और

चूहे की पहेली चढ़ी थी, इस कारण उनकी पलक तक न भीगी। तीन वर्ष पीछे उनके प्यारे चाचा जी का देहान्त हो गया। इस बार मूल जी इतना रोये, इतना रोये कि आंखें सूज कर कुप्पा हो गईं। वह मन ही मन यह सोच रहे थे—"क्या हम सब भी एक दिन इसी प्रकार मृत्यु के मुख मे चले जायेंगे? क्या कोई ऐसा उपाय नही है जिसके द्वारा हम काल का चबेना बनने से बच सकें, मृत्यु के हाथ से छुटकारा पा सकें?" मूल जी का मन दुनियाँ और उसके धन्धों से उचाट हो गया।

पिता ने यह दशा देखी, तो उनका विवाह करके उन्हें गृहस्थाश्रम की बेड़ियो मे जकड़ डालना चाहा। उन्होंने अपने मन में विचार किया कि ऐसा होने पर बालक की दशा आप से आप सुधर जायगी। इधर जब विवाह की तिथि निकट आई और कोई अन्य उपाय बचाव का दिखाई न दिया, तब मूल जी चुपचाप, बिना किसी को कुछ कहे-सुने ही, घर से निकल भागे। उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी। वह छिपे-छिपे सिद्धपुर के मेले में जा पहुँचे। अब मूलजी नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन गये। नाम रक्खा गया शुद्ध चैतन्य। ब्रह्मचारियों का सा वेष धारण कर लिया और दण्ड-कमण्डल हाथ मे ले लिया।

कृष्ण जी को भी किसी प्रकार पता चल गया, और वह कई एक सिपाहियों को साथ लिये सिद्धपुर जा पहुंचे। पुत्र को जा पकड़ा, उसका कमण्डल तोड़ डाला, पीले वस्त्र धज्जी धज्जी कर डाले और कड़ा पहरा बैठा दिया। किन्तु ज्यो ही तनिक

निगाह बची, वह फिर भाग निकले और इस बार किसी प्रकार भी उनका पता न लग सका। मूलजी ने आज माता-पिता तथा भाई-बन्धुओ के स्नेह और प्यार को, पैतृक धन-सम्पत्ति और पिता के धन-द्रव्य को और सांसारिक सुख-भोग तथा ऐश्वर्य पाने की कामना को सच्चे शिव के दर्शन करने और जन्म-मरण के बन्धनों से सदा के लिये छुटकारा पाने का उपाय जानने के लिये उत्सर्ग कर दिया! कैसा असाधारण, कितना महान त्याग था!

ज्ञान का मार्ग बड़ा ही दुर्गम कण्टकाकीर्ण और विपत्तियों से भरा हुआ है। सत्य शिव की खोज कोई सरल कार्य नहीं है किन्तु मूलजी को इस बात की तनिक भी पर्वाह नहीं थी। कहीं साधुओ ने लूटा, कहीं चोरों ने खसोटा, कही सन्यासियों ने ठगा। कहीं दिन चढ़ा, कहीं रात पड़ी। मन में यह भय भी था कि कहीं इस बार फिर न पकड़ा जाऊं। चाणोद कन्याली में ज्वालानन्द पुरी तथा शिवानन्द गिरि इन दो साधुओ से आपकी भेट हो गई। उन्होंने शुद्ध चैतन्य जी को योग की सारी प्रक्रियाएं सिखा दीं। वह ब्रह्मचारी थे, इस लिये अपना भोजन अपने ही हाथ से बनाना पड़ता था। इसमें बहुत सा समय नष्ट हो जाता था और अध्ययन-कार्य तथा योगाभ्यास के लिये बहुत थोड़ा समय बचता था। इसी कारण आपने एक महात्मा से संन्यास की दीक्षा ले ली। अब आपका नाम "शुद्ध चैतन्य" की जगह "स्वामी दयानन्द सरस्वती" हुआ।

अब स्वामी दयानन्द आबू, अरवली, गढ़वाल इत्यादि पर्वतों मे किसी ऐसे सच्चे गुरु की खोज मे भ्रमण करने लगे, जो उन्हें मृत्यु के क्रूर हाथ से छुटकारा पाने का उपाय बतला कर सच्चे शिव के दर्शन करा सके। सहस्रो कोसो की पाँव-प्यादा यात्रा की। ऐसे ऐसे असख्य तथा असह्य कष्ट-दुःख झेले कि कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। पाँव छालों से छलनी हो गये। नङ्गा शरीर कांटो से लहू-लुहान हो गया। गढवाल के पर्वतो में अलखनन्दा नदी में एक बार वह हिम की अत्यधिक, असह्य ठण्डक के कारण बेसुध हो कर गिर पडे। पहाड़ी लोग आपको वहाँ से उठा कर लाये और किसी प्रकार आपकी प्राण-रक्षा का हेतु बने। खुले मैदानों में सोये, हिंसक पशुओं से भरे हुए गहन और भयानक वनो में वृक्षों की शाखाओं पर बैठकर रातें बिताईं। बनैले फल, मूल और कन्द खाकर पेट की ज्वाला बुझाई। किन्तु वह अमूल्य निधि जिसकी खोज में यह सब कुछ सिर पर लिया और प्रसन्नतापूर्वक सहन किया था फिर भी हाथ न आई। इतना कुछ होने पर भी कोई सच्चा गुरु और पथप्रदर्शक न मिला, और न सच्चे शिव की प्राप्ति और जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त होने का ही कोई उपाय ज्ञात हो सका।

स्वामी जी की आयु प्रायः छत्तीस वर्ष की थी, जब आपको यह पता चला कि मथुरा में अस्सी वर्ष के बूढ़े, स्वामी विरजानन्द नामक एक प्रज्ञाचक्षु सन्यासी महात्मा रहते हैं, जो संस्कृत व्याकरण के उद्भट विद्वान् होने के सिवा वेदों के भी अद्वितीय

ज्ञाता हैं। वहां पहुँचे। पहली भेंट जो गुरु की सेवा में अर्पण करनी पड़ी, वह एक भारी त्याग था। आज्ञा मिली कि जो पुस्तके तुम्हारे पास हैं, उन्हें यमुना में बहा दो। उन दिनों छापेखाने कहाँ थे ? हस्तलिखित ग्रन्थ भारी मूल्य पाते और अनेक कष्ट झेलने और बड़ी खोज के पश्चात् हाथ आते थे। स्वामी दयानन्द जी के पास जो पुस्तकें थीं, वे उन्होंने सहस्रों कष्ट उठाने और अनेक विपत्तियाँ झेलने के बाद प्राप्त की थीं। पर जी कड़ा करके गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य किया और चुपचाप जाकर पुस्तको को यमुना की अथाह जल-राशि के अर्पण कर दिया। गुरु में अनन्त श्रद्धा और भक्तिभाव न होता, तब फिर विद्या-प्राप्ति कैसे हो सकती थी ? अस्तु।

पहले पहल वहां भोजन सामग्री जुटाने तथा रात को दीपक जलाने के लिये तेल तक का भी कुछ प्रबन्ध न था, किन्तु थोड़े ही दिनों में सभी आवश्यकीय वस्तुओं का यथोचित प्रबन्ध हो गया। गुरु विरजानन्द जी बड़े ही चाव तथा परिश्रमपूर्वक पढ़ाने लगे। विद्यार्थी-जीवन की दो घटनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनसे पता चलता है कि स्वामी दयानन्द की गुरु-भक्ति कैसी उच्चकोटि की थी। गरमी होती या जाड़ा अथवा वर्षा ऋतु ही क्यों न होती, स्वामी विरजानन्द नित्यप्रति यमुना के जल से अपनी कुटि मे ही स्नान किया करते थे। इस कारण स्वामी दयानन्द उनके लिये नित्य प्रातःकाल दस बारह घड़े जल के जमना जी

से लाया करते थे। इसके अनन्तर वह कुटिया मे झाड़ू देते और गुरुदेव की अटल सेवा किया करते थे।

एक दिन स्वामी दयानन्द झाड़ू तो दे चुके थे, परन्तु कूड़े का ढेर अभी तक बाहर नहीं फेका था। वह उसी जगह एक कोने में पड़ा था। गुरुजी इधर उधर टहल रहे थे। संयोग वश उन का पांव उस कूड़े के ढेर मे जा पड़ा। गुरू जी बड़े क्रोधी स्वभाव के थे। क्रोध का कुछ भी पारावार न रह गया और डंडा उठा तड़ातड़ स्वामी दयानन्द को पीटना आरम्भ कर दिया। जब वह पेट भर कर पीट चुके और उनका क्रोध कुछ शांत हुआ, तब स्वामी दयानन्द उठ कर उनके हाथों को दबाने लगे और बड़े ही आदर और विनय-पूर्वक निवेदन किया—"महाराज! निरन्तर कष्ट झेलते रहने के कारण मेरी देह बड़ी कड़ी पड़ गई है। वह वज्र के समान कठोर है। उस पर डंडे मारने से आप का हाथ दुखता होगा!"

उन डंडों की चोटों के चिन्ह आपके शरीर पर जीवन पर्यन्त बने रहे!

गुरु विरजानन्द जो पाठ एक बार स्वामी दयानन्द को पढ़ा देते थे, उसे दूसरी बार नहीं बतलाते थे, और सच्ची बात तो यह है कि उन्हें ऐसा करने की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। किन्तु संयोग वश एक दिन ऐसा हुआ कि स्वामी जी को पिछला पाठ विस्मरण हो गया। जब गुरु जी से दूसरी बार पूछने गये, तो उन्होंने बताने से स्पष्ट ही नाहीं कर दी और बोले—"ऐसा प्रतीत होता है कि तुम ने कल ध्यान-पूर्वक पाठ नहीं सुना। मैं

दूसरी बार नहीं बताऊँगा। जो सारा पाठ स्मरण न हो सके, तब यमुना में डूब कर भले ही प्राण विसर्जन कर देना, किन्तु लौट कर मेरे समीप मत आना।" निराश हो स्वामी जी यमुना-तीर पर एक पेड़ तले जा बैठे, और बड़े ही मनोयोग तथा परिश्रमपूर्वक भूले हुए पाठ को स्मरण करने की भरसक चेष्टा करने लगे। किन्तु जब सारी चेष्टा निष्फल होती देखी, तब सचमुच ही नदी में डूब मरने का सङ्कल्प कर लिया। वह इसी विचार में इतने तन्मय हो गये कि आँख झपक गई। इस दशा में वह देखते क्या हैं कि एक व्यक्ति खड़ा वही विस्मृत पाठ व्याख्या सहित सुना रहा है। स्वामी जी हर्षातिरेक से उछल पड़े और उसी क्षण आपकी आँख खुल गई। गुरु जी की सेवा में उपस्थित हो समस्त वृत्तान्त निवेदन किया। वह बड़े प्रसन्न हुए और स्वामी जी को शुभाशीर्वाद दिया।

गुरु विरजानन्द जी की सेवा में स्वामी दयानन्द प्रायः अढ़ाई वर्ष तक रहे। अन्त को विद्याध्ययन का समय समाप्त हो आया और गुरु-दक्षिणा देने का समय आ पहुँचा। स्वामी दयानन्द कहीं से एक मुट्ठी लौंग माँग लाए और यह तुच्छ भेंट गुरु जी के चरणों में अर्पण कर दी। गुरु का जी सुयोग्य, सुशील और आज्ञाकारी शिष्य के वियोग की घड़ी सन्मुख खड़ी देख भर आया। बोले—"पुत्र! परम पिता परमात्मा से मेरी यही प्रार्थना है कि वह तुम्हारा मङ्गल करें, तुम्हारी विद्या, बुद्धि तथा बल में उत्तरोत्तर उन्नति प्रदान करें, किन्तु तुम से मैं लौंगों की गुरु-दक्षिणा स्वीकार नहीं कर सकता।

स्वामी दयानन्द ने कहा—"मैं सिर-आँखो से आपकी सेवा के लिये उपस्थित हूँ, किन्तु यदि आप यह लौंग स्वीकार नही करते, तब मेरे पास अपने आप को छोड़ और कुछ भी नहीं है। जो मैं आपके चरणों में अर्पण कर सकूँ।

गुरु जी बोले—"तब अपने आपको ही गुरु-दक्षिणा रूप में मेरी भेट चढ़ादो। मैंने जो विद्या तुम्हे प्रदान की है उसको सफल करो। संसार वेदो की शिक्षा को भूल बैठा है, तुम फिर उसी शिक्षा का नये सिरे से प्रचार करो। एक बार फिर उन्हीं वेदोका डङ्का बजाओ। अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करके ज्ञान की ज्योति का प्रकाश करो। आर्य जाति की बिगड़ी हुई दशा को सुधारो। निन्द्य रीतियों और हानिकर कुप्रथाएँ दूर करो। घरबार से मुख मोड़लो। खुले मैदान तुम्हारा घर हैं। भूमि को पलङ्ग बनाओ और पत्थरो को तकिया जानो। अपना तन-मन-प्राण होम कर आर्य जाति का उद्धार करो, भारत देश का कल्याण करो। बस मुझे यही गुरु-दक्षिणा चाहिये, सांसारिक सुख-ऐश्वर्य अथवा धनरत्न की मुझको कामना नहीं है।"

स्वामी दयानन्द में त्याग-भाव पहले ही कूट-कूट कर भरा हुआ था। हाथ जोड़ निवेदन किया—"मेरे परम पूज्य, श्रद्धास्पद गुरुदेव! दयानन्द अपने तन-मन-प्राण की दक्षिणा आपके चरणों में चढ़ाता है। आशीर्वाद दीजिये कि मैं सफल मनोरथ होऊँ!"

गुरु के आनन्द-हर्ष की सीमा नहीं रही। दोनो हाथ उठा अन्तस्तल से आशीर्वाद दिया—"बेटा! ईश्वर तुम्हारी सहायता करेंगे! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी!"

अब स्वामी जी कार्य-क्षेत्र में उतरे। इस समय उनकी आयु ३९ वर्ष की थी। उन्हीं दिनों हरिद्वार में कुंभ का मेला होने वाला था, जो प्रत्येक बारह वर्ष पीछे हुआ करता है। लाखों वैरागी, उदासी, निर्मले और न जाने कितने प्रकार के साधु वहां एकत्रित थे। यात्रियों की संख्या का तो कुछ ठिकाना ही न था। स्वामी जी ने देखा कि भूले भटके और अजान लोगों को धर्म का उपदेश देकर सीधा, सच्चा मार्ग दिखाने के स्थान में पण्डित और पण्डे पाखण्ड करके उन्हें दोनो हाथों से लूट रहे हैं। सच्चे धर्म-मार्ग पर चलने की जगह संसार अज्ञान रूपी गहरे गढ़े में द्रुत गति से गिरता जा रहा है। हर की पैड़ी, हाड़ की पैड़ी का दयनीय दृश्य उपस्थित कर रही है। कारण, लोग समझते हैं कि गङ्गा मे एक डुबकी लगाने से सभी पाप दूर हो जाते हैं!

स्वामी जी ने ऋषिकेश को जाने वाली सड़क पर एक जगह जा डेरा लगाया और अपनी "पाखण्ड-खण्डनी पताका" गाड़ यात्रियों को सच्चे धर्म का उपदेश देने लगे। इस सिंह की नाद से मेले में हलचल पड़ गई। सहस्रों की सख्या में पुरुष और स्त्रियों उनका उपदेशामृत पान करने को आते, पर उसके अनुसार काम करने को एक भी आगे न बढ़ता। यह शोचनीय दशा देख स्वामी जी को ताडते देर न लगी कि पूज्य गुरु देव ने जो कुछ कहा था सर्वथा उचित ही है। लोग वेदों की अनुपम शिक्षा को भूल बैठे हैं और अज्ञान रूपी समुद्र में डुबकियां लगा रहे हैं! इसके साथ ही आपने यह भी अनुभव किया कि अभी मेरी

साधना पूरी नहीं हो पाई, मेरी तपस्या में कुछ कमी है। मन-ही-मन यह सोच, केवल एक कोपीन धारण कर आपने कठोर तपस्या की। हिम से ढके पर्वतों में केवल एक कोपीन धारण किये बैठे रहते।

इसके अनन्तर उन्होंने धर्म-प्रचार का कार्य फिर आरम्भ किया। सब को यही उपदेश देते—"गङ्गा जल से शरीर शुद्ध हो सकता है, किन्तु आत्मा निर्मल और पवित्र नहीं हो सकता। ईश्वर अवतार धारण नहीं कर सकता, कारण, वह सदा ही, सभी जगह, विद्यमान है, सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है!" अब क्या था? लोग खुले शब्दों में आपकी शिक्षा का विरोध और प्रतिवाद करने लगे। पण्डित हीरावल्लभ ने लगातार एक अठवाड़े तक संस्कृत भाषा में शास्त्रार्थ किया, किन्तु अन्त में उसे हार माननी पड़ी। वह यह प्रण करके बैठा था कि स्वामी जी से ठाकुर जी को भोग लगवाये बिना नहीं उठूंगा, पर जब शास्त्रार्थ समाप्त हुआ, उस समय उसको भरी सभा में मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार कर लेना पड़ा कि मूर्ति-पूजा वेद-विरुद्ध है और ठाकुर के सिंहासन को उठाकर गंगा में बहा दिया।

इसी प्रकार काशी में भी कई बार शास्त्रार्थ हुआ। स्वामीजी अकेले थे और विरोधीदल का पल्ला बहुत भारी था। उन्होंने अनेक प्रकार की अनेक चालें चलीं, पर मन-ही-मन वे भी स्वामी जी की योग्यता तथा विद्वत्ता की सराहना किये बिना न रह सके। कई बार पुलिस को हस्तक्षेप करना पड़ा। काशी हिन्दुओं का

विद्या-केन्द्र और धार्मिक गढ़ है। उस पर विजय प्राप्त करना कुछ सुकर कार्य न था। इसी तरह अन्यान्य स्थानों में भी अनेक शास्त्रार्थ हुए।

एक बार चाँदापुर मे शास्त्रार्थ हुआ। इससे पूर्व आर्य आर्य अथवा यो कहो, हिन्दू हिन्दू तो परस्पर वाद-विवाद किया ही करते थे, किन्तु मुसलमानों या ईसाइयों से उनकी कभी नही ठनी थी। अबकी बार ऋषि दयानन्द ने मुसलमानों तथा ईसाइयों से शास्त्रार्थ किया। विपक्षियों ने आर्य धर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया। सर सय्यद अहमद, पादरी स्कॉट इत्यादि अन्यान्य धर्मों और मतों के अनुयायी बड़े बड़े आदमी भी आप में बड़ी श्रद्धा और भक्ति भाव रखते थे। कर्नल ऑल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की ऋषि दयानन्द के दर्शन करने के अभिप्राय से अमेरिका जैसे दूर देश से चल कर आए थे और उन्हें गुरुदेव कहकर सम्बोधन करते थे।

एक बार अनूपशहर मे किसी दुष्ट ब्राह्मण ने स्वामी जी को पान में विष दे दिया। चबाया तो यह बात तुरन्त खुल गई। स्वामी जी गंगा तट पर चले गये और "न्योली कर्म" द्वारा विष तुरन्त बाहर निकाल दिया। मु० मुहम्मद तहसीलदार स्वामी जी के बड़े भक्त थे। उन्होंने चेष्टापूर्वक दोषी को पकड़वा कारागार मे बन्द करा दिया। जब इस घटना के पश्चात् तहसीलदार साहब एक दिन स्वामी जी से भेंट करने के लिये आए, तब आपने कहा—"तहसीलदार साहब! मैं लोगो को बन्धन में डालने

के लिये नहीं आया हूँ, वरन् उन्हें बन्धन-मुक्त करने आया हूँ।" फल यह हुआ कि वह ब्राह्मण कारागार-मुक्त कर दिया गया। इसी प्रकार कई बार ऋषि दयानन्द को विष-पान कराने की चेष्टा की गई और कहना न होगा कि अन्तिम चेष्टा अव्यर्थ सिद्ध हुई।

स्वामी दयानन्द बाल ब्रह्मचारी थे। उनका प्रधान बल ब्रह्मचर्य-बल था। एक बार आप मिर्जापुर में पगडंडी पर चले जा रहे थे। कुछ और लोग भी साथ थे। सामने की दिशा से एक साँड क्रोध में भरा भागता हुआ आया और तो सभी लोग भाग खड़े हुए पर एक स्वामी जी उसी प्रकार छाती ताने खड़े रहे। साँड आप ही पगडंडी छोड़ एक ओर को हो लिया। किसी ने प्रश्न किया—"जो साँड टक्कर मारता तब?" स्वामी जी ने सरलता-पूर्वक उत्तर दिया—हाथ से पकड़ कर हटा देता।"

एक दिन जालन्धर के रईस सरदार विक्रम सिंह ने आपके ब्रह्मचर्य-बल का प्रमाण चाहा। स्वामी जी ने इनकी दो घोड़ो की गाड़ी एक हाथ से पकड़ कर रोक दी। साईस ने चाबुक मार-मार कर घोड़ो को लहू लुहान कर डाला, आगे बढ़ने की भरसक चेष्टा की, पर गाड़ी एक पग भी आगे न सरक सकी। स्वामी जी ने हाथ हटाया, तब कहीं जाकर गाड़ी चली। इसी प्रकार राव कर्णसिंह और उसके गुण्डों और नौकरों के सभी वार निष्फल गये। किस में सामर्थ्य है कि मन में बुरा भाव लेकर ब्रह्मचारी के तेजोमय मुख-मण्डल की ओर निहार भी सके?

विरोधी दल अनेक प्रकार के अनुचित और निन्दनीय कार्य करने पर उतर आया था। एक बार जब स्वामी जी मथुरा मे टिके हुए थे, उन लोगो ने एक वेश्या को भारी-भारी वस्त्रों तथा सुन्दर अलङ्कारों से नई नवेली दुलहिन की भांति बनाव-शृङ्गार करके उनको धर्म-भ्रष्ट करने के लिये स्वामी जी के निकट भेजा। उस दुराचारिणी स्त्री की दृष्टि ज्यों ही समाधि मे बैठे हुए योगी के तेजपूर्ण मुख-मण्डल पर पड़ी, वह भयभीत हो उल्टे पैरों लौट आई। जब उसे डरा धमका कर पुनर्वार भेजा गया, तो उसकी काया ही पलट हो गई। आभूषण उतार उसने स्वामी जी के चरणों के निकट धर दिये और फूट-फूट कर रोने लगी। स्वामी जी ने उसके गहने-पाते उसी को लौटा दिये और उसे आगे को पवित्रता-मय जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। उस दिन से उस स्त्री के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया।

जिन दिनो स्वामी जी बङ्गाल का दौरा कर रहे थे, ब्रह्म-समाज के प्रधान नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (विश्व कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के स्वर्गीय पिता) तथा बाबू केशवचन्द्र सेन से आपकी भेट हुई। उक्त महर्षि अपने ही यहां स्वामी जी का उपदेश कराते थे। एक दिन बाबू केशवचन्द्र सेन ने स्वामी जी से कहा—"यदि आप अंग्रेजी भाषा जानते होते, तो मै आपसे इङ्गलैण्ड चलने के लिये प्रार्थना करता। वहां खूब प्रचार हो सकता था।"

स्वामी जी ने उत्तर दिया—"जो आप संस्कृत जानते होते, तब अपने देश-बन्धुओं का बहुत कुछ कल्याण कर सकते।"

उन्हीं दिनों की बात है, किसी ने आप से कहा—"स्वामीजी! आप यह न कहा करें कि अमुक बात वेद में लिखी है; वरन यह कहा करें कि यह बात मुझको ईश्वर ने कही है। इस से सुनने वालों पर अधिक प्रभाव पड़ेगा।"

स्वामी जी बोले—"मैं सत्य का प्रचार असत्य द्वारा नहीं कर सकता।"

अभी तक स्वमी जी केवल एक लंगोट बांधते थे। बाबू केशवचन्द्र ने उनसे कहा कि अब आप को नगरों-पुरों-में जाना होगा, जहाँ स्त्रियां भी आपका उपदेशामृत पान करने आएँगी, इसलिये आप वस्त्र धारण कर लीजिये। बात सर्वथा युक्तियुक्त थी, स्वामी जी ने उसको स्वीकार करने मे तनिक भी संकोच न किया।

सन् १८७७ ई० मे लार्ड लिटन ने दिल्ली में दरबार किया। स्वामी जी ने इसको वैदिक धर्म के प्रचार के लिये अमूल्य अवसर जाना और दिल्ली पहुँच गये। सर सय्यद अहमद खान, बाबू केशवचन्द्र सेन, बाबू नवीन चन्द्र राय, बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, लाला कन्हैया लाल अलखधारी इत्यादि सभी भारतीय जातियों और धर्मों के प्रमुख नेताओं को स्वामी जी ने अपने डेरे पर निमन्त्रित किया और उनसे कहा कि आप सब वैदिक धर्म के झण्डे तले आजाएँ और मिलकर देश के कल्याण

के लिये प्रयत्न करे। यह कहना निष्प्रयोजन है कि आपकी यह इच्छा पूरी न हो सकी।

बङ्गाल प्रान्त का दौरा कर चुके, तब स्वामी जी बम्बई पधारे। वहाँ आर्य समाज की स्थापना की। पूना नगर-निवासियो ने आपसे अपने नगर मे पधारने की प्रार्थना की। बम्बई हाईकोर्ट के जज, न्याय-मूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे स्वामी जी के बड़े भक्त थे। उन्होने स्वामी जी का जलूस निकाला और उन्हे हाथी पर चढ़ा कर नगर भर में घुमाया। विरोधी दल के लोगो ने अगले दिन एक आदमी का मुंह काला करके गधे पर चढ़ा गली-कूचों मे फिराया और "स्वामी दयानन्द" कह कर उसे गालियां देते तथा उस पर ईंट-पत्थर फेंकते गये। किसी ने स्वामी जी को सूचना दी, पर आपने उसका तनिक भी बुरा नही माना। सुन कर केवल इतना ही कहा—"अभी ये लोग अविद्या-अन्धकार मे डूबे हुए हैं। ज्ञान की ज्योति से इनका हृदय प्रकाशमान होगा, तो आप ही सीधे मार्ग पर आ जायेंगे।"

पञ्जाब की बारी तब आई, जब प्रायः शेष सभी प्रान्तो के रहने वाले स्वामी जी की अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न योग्यता का लोहा मान चुके थे। अमृतसर मे आपका व्याख्यान हो रहा था, उस समय कुछेक दुष्ट जनो ने आप पर ईंट-पत्थर फेंके और बे-रोक गालियाँ बकने लगे। स्वामी जी ने कहा—"जो लोग आज मुझ पर पत्थर बरसाते हैं, वही एक दिन मुझ पर पुष्पो

की वर्षा करेंगे और जो लोग आज मेरी निन्दा करते और गालियां देते हैं वे ही एक दिन मेरी प्रशंसा करेंगे और आदरपूर्वक मेरा नाम लेंगे।" आप एक दिन वजीराबाद में अमृत-वर्षा कर रहे थे कि इतने में किसी ने उनके माथे को ताक कर एक ईंट दे मारी। ईंट ठीक निशाने पर बैठी। माथा लहू-लुहान हो गया। स्वामी जी ने चुपचाप रूमाल से लहू पोंछ डाला और पहले ही की तरह उपदेश देते रहे। स्वामी ने जो कुछ कहा था अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुआ। आज पञ्जाब आर्य समाज तथा उसके कार्यों का प्रधान केन्द्र है।

स्वामी जी की दृष्टि में कोई भी अछूत नहीं था। एक बार उमीदा नाई आपके लिये बड़ी श्रद्धापूर्वक भोजन बना कर लाया। आपने भरी सभा में उसे स्वीकार कर लिया। एक दिन कड़की में आपका व्याख्यान हो रहा था। इतने में एक मजनही सिक्ख सभा मे आ बैठा। ये लोग अपने हाथों से पशु-वध करते हैं। लोगो ने उसको वहाँ से हटा दिया। स्वामी जी ने यह देखा, तो सब को सुना कर कहा—"हटाओ मत, बैठने दो। धर्म-चर्चा है। सभी को सुनने का अधिकार प्राप्त है। जैसे वायु सब की है, उसी प्रकार वेद भी सब का है। जैसे सूर्य के प्रकाश तथा चन्द्रमा की ज्योति पर सभी को अधिकार प्राप्त है, उसी तरह बड़ा-छोटा, खरा-खोटा, धर्म का उपदेश सुनने के अधिकार से भी कोई वंचित नहीं है।"

सबसे पहला मल्काना जिसे स्वामी दयानन्द ने "शुद्ध" किया था वह रुस्तमसिंह था। मुहम्मद उमर जन्म का मुसलमान

था। ऋषि दयानन्द ने उसे आर्य समाज की गोद में ले लिया और उसका नाम रक्खा अलंखधारी। एक बार पादरियों ने देशी ईसाई खड्गसिंह को स्वामी जी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये भेजा। वह बारह वर्ष से ईसाई था और उस मत का बड़ी ही लगन से काम करने वाला प्रचारक था। स्वामी जी से भेंट हुई नहीं और उसने तुरन्त वैदिक धर्म स्वीकार कर लिया।

सम्वत् १६२५ वि० में फिर हरिद्वार का कुम्भ-मेला हुआ। स्वामी दयानन्द ने अब की फिर हरिद्वार मे आ डेरा लगाया। आनंदघन नामक एक वृद्ध संन्यासी अपने चेलो सहित आपका शिष्य होगया। स्वामी दयानन्द ने उन लोगों को उपदेश दिया— "परमात्मा सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, और सर्वनियन्ता है।" अगले दिन दो नागे साधुओं ने उनके सामने शीष नवाया और उनके उपदेश को शिरोधार्य कर वस्त्र धारण कर लिये। इस बार स्वामी जी को प्रचार कार्य में अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

जिस बात को स्वामी दयानन्द सत्य मानते थे, उसके कहने में वह कभी किसी से नहीं डरते थे। एक बार बरेली नगर मे व्याख्यान देते हुए आपने कहा कि जब हजरत ईसा उत्पन्न होगये, तब फिर उनकी माता मरियम कुमारी क्योंकर हुई? सभा में अन्यान्य अँग्रेज अधिकारियों तथा पादरियों के अतिरिक्त बरेली के कमिश्नर साहब भी बैठे थे। ईसाई होने के कारण उन्हे यह

आक्षेप बुरा लगा। स्वामी जी सरकारी खजानची की कोठी पर टिके हुए थे। कमिश्नर ने खजानची जी को बुला कर कहा कि आप स्वामी जी को समझा दे। जब खजानची जी स्वामी जी के सम्मुख पहुँचे, तो उनकी समस्त वाक्शक्ति नष्ट हो गई। मुख से केवल दो-एक शब्द, वे भी असम्बद्ध और अर्थ-रहित से, बाहर निकले, पर स्वामी जी से रहस्य छिपा न रहा। अगले दिन व्याख्यान मे कमिश्नर साहब फिर आए। स्वामीजी ने निर्भीकतापूर्वक ललकार कर कहा—"लोग कहते हैं, कमिश्नर साहब अप्रसन्न हो जायँगे। मैं तो कहता हूँ, कोई रूठे, कोई मने, मुझे सत्य बात कहनी है। राजा से भी सत्य और रङ्क से भी सत्य। पहले मुझे इस बात का विश्वास दिलाओ कि कोई मेरी आत्मा का नाश कर सकता है, उसके अनन्तर मैं यह सोचूँगा कि क्या मुझे सत्यको छिपाना चाहिये?"

स्वामी दयानन्द ने कई बार राजस्थान का चक्कर लगाया। पुष्कर मे प्रचार किया और राजा-प्रजा दोनों को धर्म का उपदेश दिया। उदयपुर, जोधपुर, शाहपुर इत्यादि देशी राज्यो के नरेश आपके शिष्य हो गये। एक बार उदयपुर के महाराणा ने आप से कहा कि आप महादेव जी के मन्दिर के महन्त बन जायँ और मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करना बन्द करदें। इस मन्दिर के साथ कई लाख वार्षिक आय की जागीर है, वह भी आप ही की होगी। स्वामी दयानन्द का मुख-मण्डल तमतमा उठा। बोले—"मैं तेरा आदेश मानू अथवा परमात्मा का?"

एक दिन आपके भक्त कवि श्याम दास ने बातों बातों मे यह कह दिया कि आप ने भारतवासियो का अनन्त उपकार किया है, आप का कोई स्मारक अवश्य स्थापित होना चाहिए। स्वामी जी ने उत्तर दिया—"नही, नहीं, मेरी मृत्यु के अनन्तर मेरी भस्म को भी किसी खेत मे डलवा देना, जिस से उसकी उपज बढ़े। मूर्ति-पूजा इन्ही स्मारको से तो चली है।"

स्वामी दयानन्द के हृदय में स्त्री जाति के प्रति बड़ा ही आदर तथा श्रद्धा भाव विद्यमान था। उन्होंने कहा है कि स्त्री को भी वही, वैसे ही तथा उतने ही अधिकार प्राप्त है, जो, जैसे तथा जितने पुरुष को हैं। वह स्त्री जाति की स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे, और उन्होने ज्ञान तथा धर्म का द्वार उनके लिय खोल दिया था। एक दिन स्वामी जी कई राजाओ तथा पण्डितो के साथ बाहर घूमने के लिये जा रहे थे। आगे गाँव का एक देवालय आ गया। उस समय वहां कई एक बालक खेल रहे थे। स्वामी जी ने वहां पहुंचते ही एक दम सिर झुका दिया और फिर आगे चल पड़े। एक साथी पण्डित बोल उठा—"स्वामी जी! आप चाहे जितना मूर्त्ति-पूजा का खण्डन करे, परन्तु देवता ने अपनी शक्ति द्वारा अपने आगे आपका सिर झुकवा ही लिया।"

उन बालको मे जो वहां खेल रहे थे, एक चार-पांच वर्ष की नङ्गी-धडङ्गी बालिका भी थी। उसकी ओर हाथ से दिखाकर स्वामी जी ने कहा—"देखो, यह मातृ शक्ति है। इसी से हम सब ने जन्म पाया है। इस के आगे शीष झुकाना ही चाहिये।"

स्वामी दयानन्द वास्तव मे दया-सागर थे। आप में दया भाव कूट-कूट कर भरा हुआ था। उन्होने विधवाओं तथा अनाथों के लिये विधवा-आश्रम तथा अनाथालय स्थापित कराए और विधवाओं के पुनर्विवाह का प्रबन्ध किया। हिन्दू जाति की गई-बीती दशा देख कर उन्होंने यह अनुभव किया कि विद्या के बिना उनकी डूबती नय्या किनारे न लगेगी, इसके बिना उनकी दशा नहीं सुधर सकती, इस लिये आपने स्कूल तथा गुरुकुल खुलवाने का प्रबन्ध किया।

फर्रुखाबाद में लाला बंशीधर ने कई सहस्र रुपयों के व्यय से शिव जी का एक विशाल, सुन्दर मन्दिर बनवाया था। स्वामी दयानन्द के उपदेश का उन पर समुचित प्रभाव पड़े बिना न रहा, और उन्होने मन्दिर को पाठशाला में बदल डाला। आज आर्य समाज के सहस्रों स्कूल, कालिज, गुरुकुल, विधवा-आश्रम तथा अनाथालय खुले हुए हैं। पहले-पहले स्वामी जी संस्कृत में ही बोलते और लिखते थे, पर फिर उन्होंने हिन्दी भाषा में बोलना और लिखना आरम्भ कर दिया। हिन्दी भाषा की जो उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है, उसकी तह में भी स्वामी दयानन्द का हाथ स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

इसी दयाभाव से प्रेरित होकर स्वामी दयानन्द ने गोरक्षा का भी बीड़ा उठाया और अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त भरसक चेष्टा की। एक मेमोरियल तैयार करके उस पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा अन्यान्य सभी जातियो के लोगों के हस्ताक्षर कराए,

जिस से गो-वध न्याय-विधान द्वारा बन्द कर दिया जाय। स्वामी दयानन्द अपने आपको कोरे जबानी जमा-खर्च तक ही परिमित नहीं रखते थे, वरन् जो कुछ कहते थे, उसको कार्य-रूप से करके दिखला देते थे। एक बार उन्होंने दातारपुर में एक अत्यधिक बोझ से लदी हुई गाड़ी को कीचड़ में देखा, तो बैलों को खोल जुआ अपने कंधे पर धर लिया, पहले गाड़ी को निकाला, उसके पश्चात् बैलों को बाहर ले आये।

अब तक वैदिक धर्म का खूब प्रचार होचुका था। बीसियों आर्य समाज स्थापित हो चुके थे, जगह-जगह वैदिक धर्म के अनुयायिओं की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जाती थी, और यह आशा होने लगी थी कि काश्मीर से लेकर कन्या कुमारी पर्यन्त समस्त भारतवर्ष पवित्र वेद मन्त्रों की ध्वनि से गूँज उठेगा और प्रत्येक हिन्दू घर होम के धूएँ से सुगन्धित हो उठेगा, किन्तु उस जगन्नियन्ता को कुछ और ही स्वीकार था!

सन १८८३ ई० में जोधपुर नरेश ने स्वामी जी से अपने राज्य में आने की प्रार्थना की। इस के पूर्व राजपूताना के कई-एक राजा आप के शिष्य होचुके थे। जब आप जोधपुर को प्रस्थान करने की तैयारी करने लगे, तो श्रद्धालु भक्तों ने निवेदन किया—"महाराज! आप वहां न जाइये। वह निरे उजड्डों का देश है। वे लोग आपके उपदेश का सार और मूल्य क्या समझेंगे? कहीं ऐसा न हो कि आप अकारण अपने ही प्राण गँवा बैठें।"

स्वामी जी ने उत्तर दिया—"इसी लिये तो मैं जाता हूँ। सुधरे हुओं का सुधारना ही क्या ? बिगड़ों को सँवारने की बड़ी आवश्यकता है और रही मेरे प्राण जाने की बात, सो यदि मेरी उँगली-उँगली को बत्ती बनाकर जलाया जाय और इससे किसी एक आदमी को भी सीधी राह सूझ जाय, तब मैं अपने जीवन को सफल और अपने परिश्रम को सुफल मानूँगा। भूले-भटकों, पथ-भ्रष्ट लोगों को सन्मार्ग पर लाने के सिवा मेरे जीवन का और उद्देश्य ही क्या है ?"

स्वामी दयानन्द के जोधपुर पहुँचते ही राजा उनका श्रद्धालु भक्त बन गया और आप के सदुपदेश के प्रभाव से उसका आचरण भी सुधरने लगा। एक दिन राजा ने स्वामी जी को दरबार में पधारने का निमन्त्रण दिया। स्वामी जी पहले से सूचना दिये बिना ही वहाँ चले गये। जब आप सभा मे पहुँचे, तो देखते क्या है कि महाराज की रखैली नन्ही जान भी वहाँ उपस्थित है। राजा बड़ा लज्जित हुआ और उसको पालकी पर चढ़ा तुरन्त सभा से भेज दिया। इस अवसर पर स्वामी जी से चुप नही रहा गया। कड़क कर बोले—"राजन ! सिंह और कुतिया का संग करना अत्यन्त निन्दनीय और सर्वथा अनुचित कर्म है।" फिर डेरे पर जाकर पत्र द्वारा भी उस को यही बात समझाई। इस का परिणाम यह हुआ कि राजा का मन तो नन्ही जान से फिर गया, किन्तु नन्ही जान स्वामी जी के लहू की प्यासी हो गई और उस ने कई एक शक्तिमान् मन्त्रियो तथा कर्मचारियो को अपने साथ मिला

षड्यन्त्र रचा और स्वामी जी की हत्या कर डालने के नित्य नये उपाय सोचने लगी।

एक दिन उचित अवसर देख स्वामी जी के रसोइये द्वारा उनको विषपान करा दिया गया। विष सांघातिक सिद्ध हुआ और तुरन्त नस-नस में उसका असर जा पहुँचा। स्वामी जी को सब हाल मालूम हो गया। उन्होंने जगन्नाथ रसोइये को कहा—"जा, मैं ने तेरा अपराध क्षमा कर दिया। यहां से इसी क्षण भाग जा, अन्यथा यदि कही इन लोगों को पता चल गया, तेरे प्राण बचना असंभव हो जायगा। तूने धन के लोभ से मेरे प्राण हरे हैं, ले यह रुपये मैं तेरी प्राण-रक्षार्थ देता हूँ।

स्वामी जी ने उसको कुछ रुपये दिये और नेपाल भाग जाने को कहा। कई वर्ष हुए वह संन्यासी के वेष मे भारतवर्ष में आया था और अपने निन्दित कर्म पर घोर पश्चात्ताप करता और पुण्यात्मा स्वामी को स्मरण करके फूट-फूट कर रोता था! अस्तु।

कुछ दिनो तक जोधपुर मे ही स्वामी जी की चिकित्सा होती रही, पर दशा दिन पर दिन बिगड़ती ही गयी। फिर उनके भक्त और अनुयायी उन्हे आबू पर्वत पर ले गये, वहाँ से अजमेर लाये, पर स्वामी जी की दशा न सुधरनी थी, न सुधरी। तीव्र वेदना और असह्य कष्ट भोगने के पश्चात् ३० अक्तूबर सन् १८८३ ई० के दिन, अर्थात् दिवाली की रात को स्वामी दयानन्द परम पिता परमात्मा के अमृत पुत्र बन कर उसी सच्चे शिव की गोद मे चले गये। जब समस्त भारतवर्ष में, प्रत्येक हिन्दू घर में,

रोशनी की जा रही थी, भारत का यह चमकता-दमकता तारा सदा के लिये विलीन हो गया।

अन्त समय उनके मुख से जो शब्द निकले वह ये हैं:—

"हे दयामय ! हे सर्वशक्तिमान् ! तेरी यही इच्छा है ! तेरी यह इच्छा पूर्ण हो ! आहा ! तू ने अच्छी लीला की ! ओ३म् !!!"

ऋषि दयानन्द सत्य के उपासक थे। उनका आचरण अत्यन्त प्रशसनीय था। बड़े से बड़ा प्रलोभन भी उन्हें सत्य कहने और उसके अनुसार आचरण करने से नहीं रोक सकता था। ससार की महान् से महान शक्ति उन्हें धर्म-मार्ग से परे नहीं हटा सकती थी। कोई भी उन्हें कर्तव्य-पदभ्रष्ट करने में समर्थ न था। वह जीवन-पर्यन्त कभी झूठ नहीं बोले और अपना समस्त जीवन अज्ञान का अन्धकार दूर करने तथा विद्या और धर्म की ज्योति का प्रकाश सब ओर फैलाने मे बिता दिया।

वैदिक धर्म के साथ-साथ ऋषि दयानन्द सामाजिक सुधार के भी कट्टर पक्षपाती और सहायक थे। उनके द्वारा आर्य जाति का अनन्त उपकार हुआ है, उनके द्वारा उसको असंख्य लाभ पहुंचा है। आज अपने-पराये, मित्र-अमित्र सभी उनके शुभ कार्यों की समुचित प्रशंसा करते और गुण गाते हैं। स्वामी जी की कृतियों में से "सत्यार्थ-प्रकाश", "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" तथा "संस्कार-विधि" बहुत प्रसिद्ध हैं। जितनी अमूल्य सेवा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी जाति तथा देश की की है, उतनी इने-गिने लोग ही कर पाये होंगे। आप वस्तुतः महर्षि थे।

श्री स्वामी दयानन्द की शिक्षा

१. ईश्वर एक है। वह अनादि, अनन्त, अजन्मा और अमर है। वह सर्वव्यापक, अन्तर्यामी, सर्वाधार और सर्व-नियन्ता है। वही सृष्टि-कर्त्ता और सब का रक्षक, पालक तथा पोषक है। वह ज्ञान और ज्योति का भण्डार है। वह अद्वितीय है। एक मात्र उसी की उपासना करनी चाहिये।

२. मूर्त्ति-पूजा वेद-विरुद्ध है। हमारा कर्त्तव्य है कि विद्वानों, महात्माओं, सत् पुरुषों, माता-पिता, शिक्षक तथा अन्यान्य गुरुजनों का यथोचित आदर, मान तथा सेवा-टहल करें, किन्तु उपासना के योग्य केवल वही एक परम पिता परमात्मा है।

३. वेद सभी सच्ची विद्याओं का भाण्डार और ज्ञान की अनुपम निधि है। उसका स्वाध्याय करना और उसे दूसरों को पढ़ाना सभी सत्पुरुषों, आर्यजनों का कर्त्तव्य है। पुरुष-स्त्री, छोटे-बड़े, सभी इसके एक समान अधिकारी हैं।

४. ईश्वर को वही प्रिय है, जिसको सत्य प्रिय है, जो सत्य का आचरण करता है। सत्य ही ज्ञान का सब से बड़ा दर्जा है।

५. गुण सब जगह गुण और दोष सभी जगह दोष है। अपने दोषों को भी गुण और दूसरों के गुणों को भी दोष जानना सर्वथा अनुचित और एक निन्दनीय कर्म है।

६. न्याय-प्रियता को कभी हाथ से न दो, किसी का अनुचित पक्षपात न करो और न धर्मान्धता को अपने हृदय में स्थान

हो। जो व्यक्ति धर्मान्धता-रोग-ग्रस्त है, वह सत्य ज्ञान की खोज मे कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

७ जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य नही होता, वरन् जो होता है, गुण, कर्म तथा स्वभाव से होता है। जन्म से तो सभी नीच होते हैं। जन्म से जाति-पाँति का भेद-भाव वैदिक धर्म की शिक्षा के प्रतिकूल है। ब्राह्मण का पुत्र यदि शूद्रो के से कार्य करे, तब निस्सन्देह वह शूद्र ही है।

८. सभी मनुष्य बराबर हैं, फिर उनमे छूत-अछूत का क्या काम? जो लोग दूसरो से घृणा करते हैं, वे आप ही इस योग्य है कि उनसे घृणा की जाय।

९. मनुष्य मात्र से प्रेम करना चाहिये। प्रेम द्वारा शत्रु मित्र और पराये अपने हो जाते हैं। प्रेम मनुष्य का जन्मसिद्ध धर्म है।

१०. प्राणि मात्र पर दया दिखानी चाहिये।

११ स्त्री जाति का आदर करना उचित है।

१२ सच्चा श्राद्ध यह है कि जीवित गुरुजनो का सत्कार और सेवा की जाय। मुर्दों को श्राद्ध मे दिया हुआ नही पहुँचता।

१३. भूत-प्रेत का कोई अस्तित्व नही है।

१४ मुक्ति अपने ही शुभ कर्मो द्वारा प्राप्त हो सकती है, कोई पीर-पैगम्बर हमें मुक्ति नही दिला सकता।

१५ कर्म का सिद्धान्त अटल है। जो जैसा कर्म करेगा, उसको वैसा ही फल मिलेगा। जो करता है, वही भरता है। राम के किये कर्मों का फल श्याम को कभी नहीं मिल सकता।

१६. ब्रह्मचर्य व्रत-पालन इह-लौकिक तथा पार-लौकिक उन्नति का अचूक साधन तथा मूल-मन्त्र है। लड़के का विवाह कम से कम २५ वर्ष की आयु में और कन्या का विवाह कम से कम सोलह वर्ष की अवस्था में करना चाहिये।

१७. विवाह करते समय गुण, कर्म तथा स्वभाव की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये।

१८. विद्या के प्रकाश को फैलाना तथा अज्ञान के अन्धकार को दूर करना चाहिये। बालिकाओं के लिये भी उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना भी ऐसा ही आवश्यक है जैसा बालकों के लिये।

१९ हमें केवल अपनी ही उन्नति तथा कल्याण से सन्तुष्ट और प्रसन्न नहीं होना चाहिये, वरन् हमारा यह कर्तव्य है कि दूसरों की उन्नति के लिये भी, सदैव तन-मन-धन से, सचेष्ट रहें। मनुष्य मात्र की शारीरिक तथा आत्मिक दशा को सुधारना आर्य समाज का प्रधान उद्देश्य है।

२०. गौ की रक्षा और सेवा करनी चाहिये। यदि ऐसा न हुआ, तब भारतवर्ष एक दिन नष्ट हुए बिना न रहेगा।

२१. किसी का मन दुखाना संसार में सब से महान् पाप है।

२२. अछूतों का उद्धार और शुद्धि करनी चाहिये।

२३. आत्मा नित्य और अविनाशी है, इसको कोई नहीं मार सकता।

२४. अनाथों, विधवाओं तथा दीन-दुःखी जनों की सहायता और सामाजिक सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिये।

२५. यज्ञ वह नहीं है जिसमें निर्दोष, अनबोल पशुओं की हत्या की जाय, वरन् सच्चा यज्ञ वह है, जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहङ्कार की बलि चढ़ाई जाय।

२६. भारतवासियों के लिये एक भाषा, एक ही वेष तथा एक ही प्रकार के भाव होने चाहिये।

